मार्क्स का दर्शन

लेखक

भूपेन्द्रनाथ सान्याल

रचयिता

Joys & Sorrows Behind Prison Bars,

साम्यवाद और भारत समाजवाद की ओर

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

प्रथम संस्करण] १९४५ [मूल्य २)

भूमिका

दर्शन जीवन का दृष्टिकोण है। जीवन-मार्ग पर चलने के लिए दर्शन का सहारा जरूरी है। बिना किसी दर्शन के मनुष्य अन्धो की नाई राह टटोलता चलता और ठोकरे खाता रहता है। सच तो यह है कि हर एक मनुष्य का अपना दर्शन होता है। यदि यह दर्शन ठीक और उपयुक्त नही तो भूल दिशा को ले जानेवाला होता है। इसलिए मार्क्स ने दर्शन-शास्त्र पर समुचित जोर दिया है। मार्क्स का दर्शन सर्वसाधारण के लिए है। विशेषकर, मजदूर तथा अन्य शोषित वर्गों के लिए। पूंजीवादी समाज में क्रान्ति तथा मजदूर-जीवन के ध्येय को रूप देने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण साधन है। प्रत्येक दर्शन युगधारा का परिचायक है। युग के सघर्षों ही मे उसका जन्म है। दर्शनकार श्रेणी स्वार्थ की वार्ता का प्रचार करता है। दर्शनकार के दर्शन का उसके जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अफलातून मैसिडोनिया के राजघराने का शिक्षक था और इस सम्बन्ध की पूरी छाप उसके दर्शन पर पडी है। हेराक्लिटस परिवर्तन के प्रवर्तक इसलिए थे कि उनकी श्रेणी को दबाकर एक दूसरी श्रेणी प्रभुता कर रही थी और इसमे परिवर्तन लाना आवश्यक था। हेल्वूशियस आदि फ्रासीसी दार्शनिक मध्यम श्रेणी (आज के पूंजीवादी) के प्रतिनिधि थे और मार्क्स थे उठती हुई मजदूर श्रेणी के प्रतिनिधि।

मार्क्स के दर्शन-ग्रन्थो का प्रणयनकाल योरोप मे एक भीषण हलचल का काल था। १८३० ई० मे फ्रास की राज्य-क्रान्ति हुई और फिर १८४८ ई० में विप्लव की लहरो में इटली, फ्रास, जर्मनी और आस्ट्रिया सभी आन्दोलित हो उठे। १८७१ ई० मे प्रथम मजदूर राष्ट्र कायम हुआ जो इतिहास में पेरिस कम्यून के नाम से प्रसिद्ध है। मार्क्स का जीवन भी एक क्रान्तिकारी का जीवन है। यही कारण है कि उनका दर्शन क्रान्ति

से ओत-प्रोत है। समकालीन दार्शनिको का मार्क्स ने घोर विरोध किया और मजदूर श्रेणी के स्वार्थ की अपने दार्शनिक सिद्धान्तो के द्वारा पुष्टि की।

मार्क्स का दर्शन आसमान से नही टपका, यह स्थान और काल की उपज तो है ही, इसकी एक वशपरम्परा भी है। पाश्चात्य दर्शन के साधारण ज्ञान विना मार्क्सीय दर्शन का पूरा परिचय नही मिल सकता। अतएव पहले अध्याय मे उस आधार का ही वर्णन है। इसके अतिरिक्त मार्क्सवादी दर्शन हेगेल के दर्शन और १८वीं शताब्दी के भौतिकवाद के सयोग का फल है। इसलिए दूसरे अध्याय में फ्रासीसी भौतिकवाद का विवरण है।

हेगेल का दर्शन और फ्रासीसी भौतिकवाद के बीच की सेतु है फॅयेरवाख। मार्क्स का दर्शन एक प्रकार से फॅयेरवाख की आलोचना समर्थन तथा विरोध—की नीव पर खडा है। फॅयेरवाख भौतिकवाद के रास्ते चलकर कुछ दूर आगे रुक जाता है। उसने अपना सकोच इन शब्दो में प्रकट किया है, "इस सीमा तक मैं भौतिकवादियो से पूर्ण सहमत हूँ, इससे आगे मेरा उनका मेल नही।" निम्न उद्धरण से इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है—"जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मै विचार (आदर्श) को भी मानता हूँ, लेकिन केवल मनुष्य-जाति, राजनीति तथा आचार-नीति के क्षेत्रो में, प्रकृति तथा शरीर-शास्त्र के क्षेत्र में नही।" इस पर एगेल्स की टिप्पणी है—"राजनीति तथा आचार नीति का विचार आया कहाँ से?" फॅयेरबाख की भौतिकवादी विचारधारा ने मार्क्स के दर्शन पर काफी प्रभाव डाला। हेगेल के अनुसार विचार (आदर्श) ही सब कुछ है। स्थूल और बाह्य जगत् का वही श्रष्टा है। मार्क्स के अनुसार स्थूल वाह्यजगत् सत्य है और विचार उसका प्रतिविम्ब। यह विचार असल में फॅयेरवाख की ही देन है। इस विचार को पुष्ट करते हुए फॅयेरबाख ने हेगेल की तर्क-शैली का पूर्ण परिहार कर दिया। मार्क्स ने इस तर्क शैली को पूरी तरह अपनाया लेकिन इसके सहारे वह हेगेल

के विपरीत सिद्धान्तो पर पहुँचे। तीसरे अध्याय में फॅयेरबाख और मार्क्स का सम्बन्ध दिखाया गया है।

अन्तिम अध्याय में दर्शन पर मार्क्स के मूल सिद्धान्त है जिनको द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम से पुकारा जाता है।

पाश्चात्य और भारतीय दार्शनिक विचार धाराओ मे थोडा बहुत अन्तर होने हुए भी उनमें एक मौलिक सादृश्य है। इस कारण तथा पुस्तक का कलेवर बढने के भय से मार्क्सीय तथा भारतीय दर्शनों की विशद् तुलनात्मक आलोचना नही की गई। यदि अवसर मिला तो सम्भव है कि भविष्य में पाठकों के सम्मुख एक बृहत्तर ग्रन्थ उपस्थित कर सकूँ।

लेखक

विषय-सूची

विषय

प्रथम अध्याय

पृष्ठ भूमि

पाश्चात्य दर्शन का संक्षिप्त इतिहास

दर्शन की उत्पत्ति मानव की जिज्ञासावृत्ति का परिणाम है। 'यह दुनिया कहाँ से आई', 'मै कहाँ से आया', 'मेरे विचार कैसे पैदा होते हैं' इन्ही सब प्रश्नों के उत्तरों की खोज से ही दर्शन शास्त्र की रचना होती है। ग्रीक दार्शनिक पीथागोरस के अनुसार दर्शन की परिभाषा है प्रकृति का अध्ययन, मनन और ज्ञान। प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में अन्तर्निहित ऐक्य को जानना ही दर्शन का काम है।

सभ्य समाज की स्थापना के पहले, प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य सोचता था कि प्राकृतिक व्यापारो के पीछे कोई रहस्यमयी शक्ति है। यह शक्ति मनुष्य जैसी ही है। मेघ बिजली आदि का कारण यह शक्ति ही है। लेकिन धीरे धीरे प्रकृति के अन्दर से ही प्राकृतिक व्यापारो के कारणो की खोज होने लगी। पहले कारण से धार्मिक भावना की सृष्टि होती है और दूसरे कारण से दर्शन की।

दर्शन-शास्त्र की सबसे बडी समस्या यह है कि वह मूल पदार्थ क्या है जिससे विश्व की सब चीजें बनी है। आज भी इसका समाधान पूर्ण-रूप से नही हो सका।

प्राचीन यूनानी दार्शनिक

थेल्स्, ऐनाक्सीमेनीज, ऐनाक्सी मैंडर—योरप में दर्शन-शास्त्र की उत्पत्ति सर्वप्रथम यूनान में ही हुई और यूनानी दार्शनिक थेल्स् (ई० पू० ६४० से ५५०) ने ही सर्वप्रथम सृष्टि की रचना पर प्रकाश डाला।

उसके कथनानुसार जल से विश्व की सृष्टि हुई। ऐनाक्सीमेनीज (ई० पू० ५९० से ५२५) ने कहा कि मूल तत्त्व वायु है। ऐनाक्सी मैंडर (ई० पू० ६१० से ५४५) की खोज अधिक गहराई तक जाती है। उसने कहा कि जिन चीजो को हम जानते है, उनमें से कोई भी वह मूल पदार्थ नही है जिससे विश्व की सृष्टि हुई है। जिस मूल पदार्थ से भूमि, जल, वायु, आकाश आदि पचतत्त्व की उत्पत्ति होती है उसका उसने 'असीम' नाम दिया। उसके मतानुसार जिन क्रियाओ के आधार पर मूल पदार्थ रूपान्तरित होकर यावतीय वस्तुओ मे परिणत होता है वे है घनीकरण और विरलीकरण।

पीथागोरस—पीथागोरस (ई० पू० ५७० से ५००) ने इस मूल पदार्थ को और सूक्ष्म रूप मे दिखाया। पीथागोरसपंथियो ने वस्तु से ज्यादा उसके रूप पर जोर दिया और कहा कि वास्तविकता पदार्थ नही रूप ही है। रूप का एक प्रकार अनुपात है। सगीत-विद्या के अध्ययन से उन्होने अनुपात के महत्त्व का अनुभव किया (जैसे तार की लम्बाई और सरगम आदि स्वरो का सम्बन्ध)। इस अनुपात का प्रयोग उन्होने हर दिशा में किया। उदाहरण के लिए उन्होने यह कहा कि विभिन्न प्राथमिक गुण जैसे पित्त, कफ, वायु आदि के उचित अनुपात से शरीर का स्वास्थ्य बना रहता है और इस अनुपात के कम ज्यादा होने पर तरह तरह की बीमारियाँ पैदा हो जाती है। इस प्रकार वे इस नतीजे पर पहुँचे कि वस्तुओ का रूप ही मूल तत्त्व है। दूसरे शब्दो में उन्होने कहा कि सख्या के द्वारा सब वस्तुओ के रूप का विवरण दिया जा सकता है। इसको अच्छी तरह समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि उन दिनो विन्दुओ की विभिन्न सजावट से सख्यायें लिखी जाती थी। जैसा कि आज भी आप ताश के पत्तो में देख सकते है। यो भी विन्दुओ के समावेश से रेखायें बनती है और रेखाओ से पृष्ठ सतह और पृष्ठ सतह मे स्थूल रूप। इस प्रकार स्थूल रूप को सख्या में दिखाया जा सकता है।

इलिया के दार्शनिक पारमेनीडीज़, ज़ेनो—यूनान पर ईरानियों का क़ब्ज़ा होने के बाद वहाँ के दार्शनिको ने भागकर इटली के दक्षिण इलिया नामक स्थान में अपना अड्डा जमाया। पीथागोरसपथियों ने यही से अपने दर्शन का प्रचार किया। इलिया के दार्शनिको मे दो मुख्य थे—पारमेनीडीज़ तथा जेनो। पारमेनीडीज़ का कहना था कि वस्तु न तो शून्य से पैदा होती है और न वह शून्य मे विलीन होती है। इसलिए विश्व कभी पैदा नही किया गया और न उसका कभी अन्त ही होगा। ज़ेनो और पारमेनीडीज़ ने गति को भ्रमात्मक बताया। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है तीर की गति। गति के मार्ग मे तीर स्थान-विशेष पर है भी और नही भी है। है इसलिए कि वह स्थान-विशेष पर होकर गुज़रता है और नही है इसलिए कि क्षण भर भी वह कही ठहर नही सकता। अर्थात् या तो तीर स्थान-विशेष पर गतिहीन है या वहाँ से होकर वह गुज़रता नही। उन्होने परिणाम यह निकाला कि गति मिथ्या है।

हेराक्लिटस्—इलिया के दार्शनिको के विरुद्ध हेराक्लिप्स् ने अपने मत का प्रचार किया। यद्यपि उसने उनकी इस बात को मान लिया कि वस्तु का अस्तित्व अनन्त काल से है उसने वस्तुओं के अनेकत्व और उनके अविराम परिवर्तन पर ज़ोर दिया। उसकी ऐसी धारणा थी कि सृष्टि-क्रिया का आवर्तन चक्रस्वरूप है। प्रत्येक चक्र अग्नि से आरम्भ होता है और अग्नि पर ही उसका अन्त होता है। उसका सबसे महत्त्व-पूर्ण विचार यह है कि प्राकृतिक घटनाओ की एक धारा है और यह एक 'सार्वभौमिक बुद्धि' के अस्तित्व को साबित करता है। यह 'सार्वभौमिक बुद्धि' या तो मूल पदार्थ के अन्दर है या इससे पृथक् परन्तु इसके साथ ही साथ है।

अनाक्सागोरास और एम्पीडोक्लीज़—इस बहुवाद को अनाक्सा-गोरास (ई० पू० ५००–४८८) और एम्पीडोक्लीज़ (ई० पू० ४६०–३७०) ने और आगे बढाया और इन्ही की बुनियाद पर डीमोक्रीटस्

ने परमाणुवाद की सृष्टि की। अनाक्सागोरास का कहना था कि एक ही मूल पदार्थ से सव वस्तुओ की उत्पत्ति नही हुई। वल्कि वस्तुओ के विभिन्न बीज है जिनके सयोग से सव पदार्थ वनते हैं। इन विभिन्न बीजों की जगह एम्पीडोक्लीज ने चार मूल पदार्थों को दी, अर्थात् भूमि, जल, वायु और अग्नि। इन चार मूल पदार्थों के सयोग और वियोग का कारण उसने वताया—आकर्षण और विकर्षण।

डीमोक्रीटस्—डीमोक्रीटस् (ई० पू० ४६०–३७०) के परमाणुवाद के मुख्य सिद्धान्त ये है —

(१) शून्य से कुछ पैदा नहीं होता; जो है उसका विनाश नही होता।

(२) सब परिवर्तन अणुओ का सयोग और वियोग है।

(३) अचानक कोई बात नही होती, हर घटना का कार्यकारण सम्वन्व है।

(४) अणु तथा शून्य स्यान के अलावा और कोई चीज नहीं है।

(५) अणु असख्य है और इनके रूप अनन्त है। ये नि सीम स्थान में अनन्तकाल से गिरते रहते हैं, वडे अणु छोटे अणुओ से टकराते और टूटते रहते हैं। इस अणु-सघर्ष से पार्श्व तथा भँवर गति की सृष्टि होती रहती है। इस प्रकार विश्व की रचना होती है और असख्य जगतो का निर्माण और विनाश होता रहता है।

(६) अणुओ की कोई विशेष आन्तरिक गति नहीं होती। दबाव और सघर्ष उनकी आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया का कारण है।

(७) सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु सारे शरीर में व्याप्त हैं। इनसे जीवन-क्रिया की उत्पत्ति और आत्मा की सृष्टि होती है।

परमाणुवाद ने विश्व के रहस्य की यान्त्रिक व्याख्या की, अर्थात् विश्व का यन्त्र किस प्रकार चलता है इसका भेद बताया।

सोफिस्ट—लगभग इसी समय यूनान में सोफिस्ट दल का आविर्भाव हुआ। उन्होने ज्ञान के प्रचार के लिए वहुत प्रयत्न किया। उन्होने इस

पर जोर दिया कि जिन शब्दो का हम प्रतिदिन व्यवहार करते हैं उनकी ठीक परिभाषा होनी चाहिए। किसी वस्तु की प्रतीति और उसकी वास्तविकता के सम्बन्ध के प्रश्न की चर्चा का आरम्भ लगभग इसी काल से हुई और यह वाद-विवाद आज दिन भी जारी है। सोफिस्टों का कहना था कि इन्द्रियो के द्वारा ही वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और इन्द्रियो का अनुभव ही सब कुछ है। आवश्यकीय नही कि प्रत्येक स्थान और समय के लिए एक सत्य हो। जो एक स्थान के लिए सत्य है वह दूसरे स्थान के लिए असत्य भी हो सकता है। जो एक काल के लिए सत्य है, सम्भव है कि वह दूसरे काल के लिए सत्य न हो। उनका प्रसिद्ध प्रवचन है "मनुष्य ही सब वस्तुओ का मापदण्ड है। मनुष्य के अनुभव के ऊपर ही किसी वस्तु का सत्यासत्य अथवा लाभप्रद वा हानिकर होना निर्भर है। इसका एक नतीजा यह भी हुआ कि अनुभूति ने अनुभूत पदार्थ को पीछे ढकेल दिया और मनुष्य के अनुभव को ही अधिक महत्त्व दिया जाने लगा।

शंकावादी—धार्मिक प्रचार ने दर्शन के मार्ग में बहुत बडा रोडा अटकाया। इस प्रचार का मुख्य सिद्धान्त यही है कि मनुष्य की बुद्धि सीमित है और वह सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिए असमर्थ है। मनुष्य के भाग्य मे चिराधकार लिखा है। प्रकृति सदा उसके लिए रहस्यमयी बनी रहेगी। शकावादियों ने इस तर्क का विरोध किया। किसी भी अनुशासन की सर्वमान्यता को उन्होने अस्वीकार किया। लेकिन इस अस्वीकार-वृत्ति का परिणाम यह हुआ कि किसी भी वस्तु के ज्ञान की स्थिरता नही रही।

सुकरात—इस समय सारा यूनान सुकरात के दर्शन से प्रभावित हो रहा था। एक अश तक सुकरात और सोफिस्टो का मतैक्य था। सोफिस्टो की भाँति उसने भी शिक्षा के प्रचार की चेष्टा की। नैतिक प्रश्नो मे उसकी विशेष रुचि थी। इसके अतिरिक्त वह प्रचलित विश्वासों को तर्क की कसौटी पर कसता था। उसका विश्वास था कि सही रास्ते

पर चलने से सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। उसके मतानुसार यह ज्ञान व्यक्तिगत राय से भिन्न है। दृष्ट घटनाओ के कार्यकारण सम्बन्ध के द्वारा सच्चे ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। कारणो द्वारा ही कार्य निर्धारित किया जा सकता है। अभिप्राय यह था कि व्यवहार में उदाहरणो से सिद्धान्त की पुष्टि की जाय ताकि दृष्ट घटनाओ के आधार पर सिद्धान्त क़ायम हो। ज्ञान को उसने मनुष्योचित गुणो में प्रधान स्थान दिया अर्थात् जो उचित है उसके ज्ञान को सबसे बडा गुण बताया। सुक़रात ने इस विचार को जन्म दिया कि व्यापक विचार अथवा धारणा द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है।

शकावादियो का कहना था कि कोई भी ज्ञान निश्चयात्मक नही है। सुकरात ने यह उत्तर दिया कि देवता यह नही चाहते कि कोई उनके रहस्य को जाने। सुकरात ने अपने दर्शन को नीतिविषयक प्रश्नो तक सीमित रक्खा। उसने वैज्ञानिक खोज की जगह आध्यात्मिक कल्पनाओ को अधिक प्रोत्साहन दिया। सोफिस्टो के विरोध में उसने कहा कि मनुष्य अपने बाहर से ज्ञान सचय नही करता, सत्य उसके अन्दर ही है। उसने यह भी कहा कि सब मनुष्य न्यायवान् हो सकते है, क्योकि न्याय का निवास उनकी अन्तरानुभूति में है। वे सदाचारी और बुद्धिमान हो सकते हैं क्योकि यह गुण उनके स्वभाव में है। इस आत्मनिर्भर ज्ञान का यह परिणाम हुआ कि न्याय, अच्छाई और गुण की विभिन्न धारणाओ को पृथक् वस्तुओ का रूप दे दिया गया और सच्चाई का यह पैमाना सदा के लिए अचल अटल बन गया।

सत्य सदा के लिए एकसाँ है, ज्ञान का पैमाना बँधा हुआ है और उसका निवास मनुष्य की अन्तरानुभूति में है, इस बुनियाद पर सुकरात ने उस ज्योति की व्याख्या की जिससे जीवन का मार्ग आलोकमय हो सकता है। मनुष्य का मस्तिष्क अवैज्ञानिक और असलग्न विचारो से भरा पडा है। सुकरात ने विचारो की इन झाडियो को साफ कर उनकी जगह "वैज्ञानिक विचारो" अर्थात् अचल सत्यो का बीज बोया। इसी

से मनुष्य में नैसर्गिक ज्योति का प्रकाश हो सकता है। वैज्ञानिक विचार और सत्य ज्ञान शब्दो की परिभापा पर निर्भर है। परिभाषा व्यापक शब्दो की रूप-रेखा का वर्णन है। न्याय क्या है? गुण क्या है? कानून क्या है? सोफिस्टो द्वारा उठाये हुए इन प्रश्नो के उत्तर की खोज के लिए सुकरात ने इसी परिभाषा के यन्त्र का प्रयोग किया। उसने भौतिक और सृष्टिविषयक कल्पनाओ के स्थान पर मानसिक कल्पनाओ को प्रतिष्ठित किया। दार्शनिक खोज के मुख्य विषय रहे हैं व्यापक और अमूर्त शब्द और उनके अर्थ न कि प्रकृति और उसके उपादान, यह सुकरात का देन है। सुकरात-पूर्व दर्शन का प्रयत्न था अपनी युवावस्था के अनुरूप प्राकृतिक घटनाओ का सर्वोत्तम व्याख्या करना। सुकरात ने इन प्रयत्नो को व्यर्थ बताया। उसका कहना था कि विज्ञान सिखाया नही जा सकता अर्थात् ज्ञान अनुभव से नही प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान मनुष्य के अन्दर ही है। आवश्यकता उसकी अनुभूति की है। बाहरी वस्तुओ के ज्ञान की मनुष्य को आवश्यकता नही है। अपने अन्तर्निहित ज्ञान को ही विकसित करना आवश्यक है।

अफलातून—अफलातून सुकरात का प्रधान शिष्य था। वह विश्व-विख्यात दार्शनिक हो गया है। उसके समय से लोग इस अपूर्ण दुनिया से मुख मोडकर अनन्त सत्य के ध्यान में निमग्न रहने लगे। उन्ही के प्रभाव के कारण यूनानी वास्तविकता के विवरणो की ओर ध्यान न देकर अमूर्त और व्यापक सत्य और सिद्धान्तो की खोज मे लगे रहे। इन्द्रियो के अनुभव और प्रयोग द्वारा नही बल्कि केवल विचार शक्ति द्वारा वे इनकी खोज करते रहे। इस रास्ते से वे जिस नतीजे पर पहुँचे वह दर्शन-शास्त्र के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह मानकर कि सत्य वही है जो विरोधाभास से मुक्त है, वे इन सिद्धान्त पर पहुँचे कि गति या परिवर्तन की व्याख्या नही की जा सकती। वे हमेशा विरोधपूर्ण है और इसलिए असत्य है। जो अपरिवर्तनीय है वही विरोधमुक्त है। सत्य नित्य है। परिवर्तन भ्रम है।

गति या परिवर्तन क्यो विरोधपूर्ण है, इसको समझने के लिए तीर की गति का उदाहरण पहले ही दिया जा चुका है। दार्शनिक जेनो जिसने यह उदाहरण दिया था उसने गति को भ्रमपूर्ण बताया और स्थिरता को स्वीकार किया, क्योकि स्थिरता बुद्धिग्राह्य थी। इसलिए आज हम जिसको परिवर्तन या विकास कहते हैं वह यूनानवासियो के लिए अलीकमात्र था। इस तरह इस परम्परा की सृष्टि हुई कि इन्द्रियो से सम्बन्धित जीवन वास्तव जीवन नही है बल्कि माया है, यहाँ तक कि दोषपूर्ण है। जो वास्तव है वह अविकृत और अनन्त है और बुद्धि ही उसको ग्रहण कर सकती है। अथवा आत्मा की किसी रहस्यमयी शक्ति को ईश्वर की महिमा से इस वास्तव की अनुभूति होती है। इस प्रकार बुद्धि को प्रधानता दी गई और प्रकृति को समझने के लिए अनुभव तथा प्रयोग-मार्ग की उपेक्षा की गई।

लेकिन यूनान की विचारधारा का एक और पहलू भी है। बुद्धि और बुद्धि द्वारा आविष्कार किये जानेवाले सत्य के प्रति गम्भीर श्रद्धा ने ज्ञान के उस रास्ते को खोल दिया जिसको तर्क सिद्धि का मार्ग कह सकते है। यदि कुछ सार्वभौमिक सिद्धान्त सच हैं तो उनसे कुछ विशिष्ट बातें सिद्ध की जा सकती है और जिनका सच होना भी आवश्यक है। युक्लिड का रेखागणित इस तर्क सिद्धि का सर्वोत्तम उदाहरण है। कुछ स्वय सिद्ध सिद्धान्तो पर इसकी बुनियाद है। जिनको मान लेने से सभी ऐसे प्रतिपाद्यो की सिद्धि हो जाती है जैसे 'समद्विबाहु त्रिभुज के आधार के दोनो कोण समान होने है।' अनुभव से अलग रहकर, विशुद्ध विचार द्वारा ही जब हम इन अनुमानो और प्राथमिक सिद्धान्तो पर पहुँचते है तब हमारा सारा दृष्टिकोण गलत हो जाता है। लेकिन दो मानो में यह विशेष रूप से सत्य है और इससे वह रास्ता बन गया जिस दिशा में वैज्ञानिक विचारधारा का विकास होने को था। पहली बात यह कि अफलातून का विश्वास था कि भौतिक वस्तुओ के देखने की आवश्यकता इसलिए है कि उस आदर्श सत्य का ख्याल हो सके जो इन वस्तुओ में

आंशिक रूप से मूर्त होता है। दूसरे वे अनुमान और व्यापक सत्य हैं जिनको आजकल हम वैज्ञानिक नियम के नाम से पुकारते है। क्योकि नियम केवल दृष्ट घटनाओ का जोड़ नही। इतनी घटनाये इकट्ठा ही नही की जा सकती जिससे कोई ध्रुव सत्य पर पहुँच सके। एक सच्चा नियम कुछ घटनाओ को एकत्रित करने के अलावा उनका अर्थ भी बताता है। यूनानी विचारधारा ने मनुष्य को यह सिखलाया कि घटनाये काफी नही है, यह असम्पूर्ण और धोखा देनेवाली है। इन घटनाओ के पीछे कुछ गम्भीर सत्य है। वैज्ञानिक नियम ही येह सत्य है। वैज्ञानिक नियमानुसार ही उनकी उत्पत्ति होती है और उन्ही के द्वारा वर्तमान घटनाओ की व्याख्या की जा सकती है। यूनानियो ने यह महान आविष्कार किया कि हम घटनाओ को जान सकते है और उन घटनाओ के मूल नियमो को भी जान सकते है।

अफलातून ने हेराक्लिट्स, पीथागोरस तथा सुकरात की विचार-धाराओ का समन्वय करना चाहा। सुकरात की भाँति उसकी यह राय थी कि ज्ञान सम्भव है लेकिन केवल व्यापक विचार, धारणा अथवा सत्य द्वारा। हेराक्लिटस् की भाँति उसकी राय थी कि जिन वस्तुओ को हम देखते है वे परिवर्तनशील घटनाओ की बहती हुई धाराये है जिनके विषय मे कोई सार्वभौमिक सत्य लागू नही होता। उसने यह नतीजा निकाला कि ज्ञान के असली विषय इन्द्रियानुभूत जगत् की वदलती हुई चीजे नही है। उसके विषय है 'धारणाएँ' जो इन्द्रियानुभूति के परे और अपरि-वर्तनीय है। पीथागोरस के रूप की तरह उसकी इन्द्रिय जगत् की कल्पना एक निम्न श्रेणी का सत्य है और इस 'धारणा' का अनुकरण-मात्र है या सके आस-पास की कोई चीज़ है। इस तरह उसने वस्तु और वस्तु-ज्ञान के दो भाग किए,-सत्य ज्ञान, जो 'धारणाओ' से या अनन्त अस्तित्व की दुनिया से सम्वन्धित है और इन्द्रियानुभूति जो एक निम्न श्रेणी का ज्ञान है। शेपोक्त का उसने नामकरण किया मत जिसका सम्बन्ध परि-वर्तनशील जगत् से है। सम्भवत धारणाओ से अफलातून का आशय है

प्रकृति के शाश्वत नियम। इन्द्रियानुभूत वस्तु धारणा का अनुकरण-मात्र है। इस विवरण का मतलब फिर यही है कि साधारण वस्तु और घटनायें प्राकृतिक नियमो का अनुवर्तन सम्पूर्ण तौर पर नही वल्कि क़रीब-करीव करती है। जो कुछ हो विश्व के विषय अफलातून की धारणा यह थी कि यह यन्त्रवत् नही चलता—इसकी घटनाओ का एक सम्बन्ध है और एक उद्देश्य की ओर यह घटनायें चलती है। यह उद्देश्य है शुभ। इस शुभ की उपमा अफलातून ने सूर्य से दी है। जिस प्रकार चीज़ो की वृद्धि के मूल में सूर्य है और ये उसी की रोशनी से देखी जा सकती है उसी प्रकार शुभ सब सत्यो के मूल में है और इनके ज्ञान का द्वार भी है।

"किसी सत्य का विवरण उसके विषय के अनुरूप होता है। जिनका सम्बन्ध वस्तुतत्त्व और धारणाओ से है वे प्रामाणिक सत्य है। जिनका सम्बन्ध इन्द्रियानुभूत जगत् अथवा धारणाओ के अनुकरणो से है उनके सत्य का अनुपात इस सम्बन्ध के ऊपर निर्भर है। इन्द्रिय जगत से सम्बन्ध जितना अधिक है सत्य का अश उतना कम है, ये अधिक से अधिक सम्भावनायें हो सकती है। जो सार्वभौमिक विवरण हैं वे प्राथमिक सत्य है। इनका ज्ञान सहज प्रत्यय द्वारा होता है।" अपनी आत्मा की सूचना सारे ज्ञान का मूल है।

हेराक्लिटस् और पीथागोरस के विचारो का समन्वय अफलातून किस प्रकार से करता है? अफलातून के रूप क्या है? पहले उन चीज़ो पर विचार कीजिए जिनकी अनुभूति हमको इन्द्रियो द्वारा होती है। अफलातून का इशारा वरावर इस बात पर है कि इन्द्रियानुभूत ज्ञान आपेक्षिक और भ्रमपूर्ण है। उसने एक उदाहरण दिया। यदि कोई अपना हाथ पहले वर्फ पर रखता है फिर गुनगुने पानी मे डालता है, तो वह पानी उसको वहुत गर्म मालूम पडेगा। अव मान लीजिए कि वहुत गर्म पानी से हाथ धोकर फिर वह उसी गुनगुने पानी मे हाथ डालता है। वह गुनगुना

पानी जो पहले बहुत गर्म मालूम पडता था, अब ठंडा मालूम होगा। देखिए, वही पानी गर्म भी है और ठंडा भी। उसका एक दूसरा उदाहरण लीजिए। हाथी चूहे को छोटा जानवर समझेगा, लेकिन चींटी के सामने चूहा बहुत बडा जानवर है। इस प्रकार चूहा बडा भी है और छोटा भी। यह इस पर निर्भर है कि कौन जानवर उसको देख रहा है। इसी प्रकार सौन्दर्य और नीति के विषय मे मनुष्यो की विभिन्न राय है। किसी चित्र को एक सुन्दर कहेगा दूसरा असुन्दर। अफलातून की भाषा मे किसी भी इन्द्रियानुभूत विषय के विपरीत गुण हो सकते है, इसलिए उसका कोई निश्चयात्मक गुण नही है। जिस आधार पर यह कहा जा सकता हो कि किसी वस्तु 'क' का गुण 'अ' है, उसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उसका गुण 'उ' है, जहाँ 'उ', 'अ' का विपरीत है। अर्थात् 'क' के दोनो गुण है 'अ' तथा 'उ', या इनमे से कोई भी गुण नही है बल्कि दोनो के बीच घूमा करता है। इसलिए 'क' का कोई सत्यगुण नही है और यह वास्तव नही है। चूँकि 'क' कोई अपरिवर्तनीय गुणसमन्वित निश्चित वस्तु नही है इसलिए इसका कोई ज्ञान हमको नही हो सकता। इसके विषय में हमारी केवल राय हो सकती है। यही कारण है कि एक ही वस्तु के विषय मे हम विपरीत बातें कह सकते है। जैसे, किसी चित्र के विषय में दो राये हो सकती है। एक मत से वह सुन्दर होगा, दूसरे मतानुसार असुन्दर। दो विपरीत रायो का कारण है कि कोई भी राय सत्य नही। लेकिन ज्ञान स्वय विरोधी नही हो सकता। जो वस्तु नित्य है उसका कोई गुण निश्चित रूप से या तो है या नही है। केवल इन्ही निश्चित गुणो का हमको ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इन्द्रियानुभूत जगत् का हमको कोई ज्ञान नही। कारण कि उसका कोई निश्चित गुण नही है। लेकिन विज्ञान और गणितादि इस बात का प्रमाण है कि हमको ज्ञान है। यह ज्ञान किस चीज का है? अफलातून का उत्तर है कि यह ज्ञान रूपजगत् अथवा धारणाओं का है। इसका आशय समझने के लिए कोई एक धारणा ले लीजिए—

सफेदी। सफेदी और सफेद चीज़ (जैसे चूना) एक नही है और न सफेदी सब सफेद चीज़ो का योगफल है। फिर यह सफेदी है क्या? उत्तर दिया जा सकता है कि यह मस्तिष्क की एक धारणा या विचार है। लेकिन अफलातून का यह उत्तर नही। 'गुण मस्तिष्क का विचार है', इस पर अफलातून की आपत्ति यह है कि यदि सफेद वस्तु से हम अपना ध्यान हटा ले तो वह सफेद न रह जायगी, अथवा सब मस्तिष्को के अन्त हो जाने पर सफेदी जैसी कोई चीज न रह जायगी। लेकिन सफेद वस्तु के ध्यान से विरत होने पर उस वस्तु के गुण मे कोई परिवर्तन नही हो जाता, इसलिए सफेदी कोई मानसिक चीज़ नही है। यद्यपि यह वस्तुओ का गुण है, यह स्वय कोई वस्तु या वस्तुसमूह नही है। फिर यह क्या है? अफलातून का उत्तर है कि यह न तो मानसिक है न वास्तविक। यह 'रूप', या 'धारणा' है जो अपरिवर्तनीय, पूर्ण, नित्य और वास्तव-जगत् का निवासी है। सभी रूप जिनको हम इन्द्रियानुभूत विषयो के गुणो मे रूपान्तिव देखते है या जिनको हम बुद्धि द्वारा ग्रहण करते हैं, वास्तव जगत् के अग है। इन्द्रियानुभूत वस्तुओ के जो कुछ गुण दिखलाई पडते है उनका कारण है 'रूप'। इसी से उनमे सत्य का आभास होता है। इन रूपो के लिए ही यह कहा जा सकता है कि इनके विषय मे हमारी 'राय' नही है बल्कि 'ज्ञान' है। दर्शन का उद्देश्य 'राय' के राज्य से, जहाँ कि चीज़ें अनित्य और परिवर्तनशील इन्द्रिय जगत् की चीज़ें है, आत्मा को ज्ञान के राज्य मे ले जाना है, जहाँ आत्मा उन रूपो, जो इन्द्रिय जगत् के वस्तुओ के जन्मदाता है, के सम्मुख होती है।

इस प्रकार अफलातून हेराक्लिटस् और पीथागोरस के मतो का सामञ्जस्य करता है। अफलातून इन्द्रिय जगत् की अपूर्णता के मुकाबले स्थिर आदर्शों का एक जगत् रखता है जो केवल बुद्धि-ग्राह्य है। जगत् की बिखरी हुई वस्तुओ मे एक शृंखला स्थापित करने के प्रयत्न के बजाय वह एक दुनिया की कल्पना करता है जो पहले ही से विद्यमान है।

इद्रिय द्वारा ज्ञान सञ्चय की जगह मनन द्वारा ज्ञान सञ्चय पर उसका अधिक जोर है।

अरस्तू—साधारणतया अरस्तू ने अफलातून की अपेक्षा वास्तविकता और अनुभव पर अधिक ज़ोर दिया। दूसरे शब्दो में उसकी इन्द्रिय-जगत् मे अधिक श्रद्धा थी, लेकिन उसने वास्तविकता के दूसरे पहलुओ से मुंह नही मोडा। अफलातून के कुछ बुनियादी विचारो से वह सहमत भी था। ज्ञान के लिए व्यापक विचार या धारणाओ का महत्त्व है, इस विषय में अरस्तू, सुकरात और अफलातून एकमत थे। लेकिन उसने इद्रिय-जगत् से पृथक् अफलातून के धारणा-जगत् को मानने से इनकार किया। अनुभव-जगत् को समझने और समझाने के लिए धारणाओ की आवश्यकता को उसने स्वीकार किया। दृष्ट-वस्तु और धारणा, तथा व्यापक और विशिष्ट मे उसने सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने कहा कि दोनो के सयोग से ही वास्तव-जगत् और ज्ञान की सृष्टि होती है। अब तक वस्तु और रूप पृथक् थे; उसने अपनी कल्पना में दोनो को सयुक्त किया। यूनान के पिछले युग मे केवल वस्तु पर जोर दिया गया था। पीथागोरस और अफलातून ने केवल रूप पर ज़ोर दिया। अरस्तू ने इनके परस्पर साहचर्य का प्रचार किया। रूप वस्तु में सश्लिष्ट है, विश्व ब्रह्माण्ड अण्ड में निहित है। इनका प्रभेद किया जा सकता है लेकिन इनको पृथक् नही किया जा सकता। अफ़लातून के आदर्शवाद का कारण है विशुद्ध रेखागणित और काल्पनिक आकारो में उसका प्रेम। अरस्तू की विशेष रूप से जीव-विज्ञान मे रुचि थी। प्रकृति में विकास और परिवर्धन क्रिया के विकास के अध्ययन के कारण 'अपरिवर्तनीय' धारणा की ओर बढने में वह प्रोत्साहित न हो सका। वास्तव में अरस्तू ने जिस अर्थ मे वस्तु और रूप की आख्याओं का प्रयोग किया उसके द्वारा उसने दो विचारधाराओ के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने की कोशिश की। एक विचारधारा इलिया के दार्शनिको की थी कि परिवर्तन भ्रम-मात्र है और नित्य ही सत्य है। दूसरी हेरा-

क्लटस की थी जिसके अनुसार परिवर्तन ही वास्तव है। अरस्तू दोनो के प्रति न्याय करना चाहता था। उसने हर साधारण वस्तु में वस्तुतत्व और रूप दोनो ही को माना, अर्थात् वस्तुतत्त्व आकारमण्डित होकर एक विशिष्ट रूप ग्रहण करता है। विभिन्न वस्तुओ के लिए वस्तुतत्त्व और रूप भिन्न भिन्न है। मूर्त्ति के लिए सगमर्मर वस्तुतत्त्व है और भास्कर जो कुछ आकार प्रदान करता है वही उसका रूप है। कोई वनस्पति, जानवर, या मनुष्य के लिए शरीर का सगठन वस्तुतत्त्व है और उसके कार्य-कलाप जैसे पाचनक्रिया, इन्द्रियानुभूति, या वोधक्रिया इसके रूप है। इसके अलावा बिना रूप की कोई वस्तु नही होती। अरस्तू के समय जो प्राथमिक वस्तुएँ मानी जाती थी, जैसे, अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी उनको भी इसने किसी मूल पदार्थ के विभिन्न रूप करके माना। इनकी उत्पत्ति का कारण कुछ आदि गुणो जैसे शुष्क, आर्द्र, शीत और उष्ण इत्यादि का विभिन्न प्रकार से सयोग है। रूपहीन वस्तु की धारणा कल्पना के एक सीमान्त पर है। जिस वस्तु का विकास हो सकता है, विकास क्रिया के सम्बन्ध में उसको वस्तुतत्त्व कहते हैं। लेकिन पदार्थ की इस प्रकार की कल्पना मे भी एक रूप का आभास मिलता है जिससे इसका किसी कम विकसित पदार्थ से प्रभेद किया जा सकता है। इस प्रकार वस्तु और रूप का प्रभेद आपेक्षिक और तुलनात्मक है। लेकिन इस आपेक्षिकता की कुछ सीमाएँ है। भौतिक वस्तुओ का रूप चार मूल पदार्थों के रूप से कम नही हो सकता। रूप के विकास की भी एक सीमा है। पत्थर का एक टुकडा किसी मूर्त्ति का रूप तो ले सकता है लेकिन वह पौधा नही वन सकता। नीम का वीज समय पर नीम का पेड तो हो सकता है लेकिन जानवर नही वन सकता। इस प्रकार अरस्तू के विचार में जीव और वस्तु का प्रभेद एक स्थायी प्रभेद था। लेकिन उसने वस्तुराज्य की विचित्रता का तुलनात्मक ढग से अध्ययन किया और यह भी दिखलाया कि इनमें एक श्रेणी तारतम्य है। उसने इसके वहुत से उदाहरण दिखलाए कि जीने की सीढियो जैसा वस्तुओ का सम्बन्ध

है। ज़ीना की एक सीमा पर वह सीढी है जहाँ वस्तु का कोई रूप नही। दूसरी सीमा पर वह पूर्णता है जो रूप है परन्तु जिसमे वस्तुतत्त्व नही है क्योकि इससे आगे विकास के लिए इसमे कोई स्थान नही है। यह रूप ईश्वर का है और अरस्तू के मतानुसार अफलातून की 'ध.रणा' का ईश्वर ही एकमात्र उदाहरण है। अरस्तू का ईश्वर सृष्टिकर्ता नही है, क्योकि वस्तुतत्त्व और रूप अनन्त काल से है और रूप सदा ही वस्तु मे मूर्त होता आया है। लेकिन किसी प्रकार सव वस्तुएँ ईश्वर की ओर आकर्षित होती हैं। ईश्वर विश्व-कामना का ध्येय है और उसके अस्तित्व-मात्र से वस्तुओ का विकास पूर्णता की ओर होता है। वह विश्व-ससार का गति-दायक है यद्यपि वह स्वय गति-रहित है और ईश्वर-प्रेम की प्रेरणा से ही पृथ्वी चक्रवत् घूमतो रहती है।

अरस्तू के वस्तु और रूपविषयक विचार सक्षेप मे यह है। हर वस्तु के दो भाग किए जा सकते है, एक तो वस्तु जिससे वह बनती है। दूसरा सगठन का नियम जो वस्तु मे प्रदर्शित होता है, जिसके कारण उसके गुणों का अस्तित्व है और दूसरे सम्वन्धित वस्तुओ से उसकी भिन्नता है। पहला वस्तु है, दूसरा रूप। हर वस्तु के यह दो और केवल यही दो अग होते है। जिस अनुपात मे वस्तु मे रूप की मात्रा अधिक होती है उसी के अनुसार वस्तुओ की श्रेणी मे उसका उतना उच्च स्थान है। उदाहरणार्थ आम का वस्तु वृक्ष है और रूप आम। वृक्ष का वस्तु जगल है और रूप वृक्ष। इसलिए वृक्ष जो आम के लिए वस्तु है वही जगल के लिए रूप है। इस प्रकार जगल से वृक्ष आगे की सीढी पर है और आम उससे भी आगे की। अरस्तू का यह कहना नही है कि वस्तु से पृथक् रूप का कोई अस्तित्व है। वस्तु जिस प्रकार से सगठित है वही उसका रूप है। वस्तु और रूप के सिद्धान्त से इस प्रश्न का उत्तर मिलता है कि वस्तु का किन भागो मे विश्लेपण किया जाय।

दूसरा प्रश्न यह है कि जो वस्तु जैसी है वह क्यो ऐसी है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए अरस्तू ने जो सिद्धान्त वनाया उसका नाम है सुप्त-

शक्ति और वास्तविकता का सिद्धान्त। दो पौधो के बीजो को ले लीजिए–तीसी और अलसी। इन बीजो का प्रथमावस्था में प्रभेद करना बहुत कठिन है। लेकिन यह तो निश्चय ही है कि एक से तीसी पैद होगी और दूसरे से अलसी। इसका विवरण अरस्तू ने इस ढग से किया है कि प्रत्येक बीज जो कुछ कि वह भविष्य में होनेवाला है वही वह आज भी है, हाँ, केवल आवरणयुक्त है, अविकसित रूप में है। इस प्रकार हर बढ़ती हुई वस्तु में एक शक्ति होती है जिससे वह अपने विशिष्ट सगठन या रूप को प्राप्त होता है। अरस्तू के शब्दो मे जो रूप सुप्त था वह जागरित और वास्तविक बन जाता है। हर वस्तु का उद्देश्य अपने उपयुक्त रूप को प्राप्त करना है। इस प्रकार प्रकृति में हर वर्द्धनशील वस्तु एक उद्देश्य से प्रेरित मालूम पड़ती है। जिस उद्देश्य को वह पूरा करना चाहती है उसी की ओर वह आकर्षित होती है और यही उसके बढने का इतिहास है। इस सिद्धान्त का प्रयोग प्राकृतिक वस्तुओ में ही सीमित नही है। जब कोई शिल्पी एक मकान बनाना चाहता है तब हम यह कहते हैं कि मकान उसके नक्शे मे ही अवस्थित (सुप्त) है और उसका निर्माण उसको केवल सुप्तावस्था से वास्तव में परिणत करता है।

वस्तु और रूप तथा सुप्त-शक्ति और वास्तविकता के सिद्धान्तो के सयोग से अरस्तू इस प्रश्न का उत्तर देता है कि दुनिया मे जो कुछ है वह क्यो है और जो कुछ वह दीखता है वह ऐसा क्यो दीखता है। चार कारणो का सिद्धान्त ही यह उत्तर है। अरस्तू ने यह कहा कि यदि तुम यह जानना चाहते हो कि कोई वस्तु जो कुछ है वह किस प्रकार से ऐसा हो गया है तो चार चीजो को ध्यान में रखना चाहिए। पहला है पदार्थ जिससे कि वस्तु बनी होती है जैसे आम की गुठली जिसमे आम पैदा होता है। यह भौतिक हेतु है। दूसरा है नियम जिसके अनुसार इसका विकास हुआ है। उस गुठली की प्रवृत्ति आम के पेड के रूप में बढ़ने की है और इस प्रवृत्ति से वह मुक्त नही हो सकती। और इसके विपरीत वह कटहल का पेड नही बन सकती। इस प्रवृत्ति या विकास के नियम

को रूप हेतु कहते है। तीसरा है कर्त्ता जिसके प्रारम्भिक धक्के से सारी क्रिया होने लग जाती है। दूसरे शब्दो मे एक आम का पेड होना चाहिए जो उस गुठली को जन्म दे और जिस गुठली को भौतिक हेतु कहा गया है। यहाँ आम का पेड कर्त्ता हेतु है इस हेतु को अरस्तू ने कर्त्तृत्व हेतु का नाम दिया है। अन्तिम कारण है वह वास्तविक रूप जिसको बीज प्राप्त करने की खोज मे था, अर्थात् गुठली के क्षेत्र मे आम या चित्रकार के क्षेत्र मे सम्पूर्ण चित्र। यह है अन्तिम कारण।

अन्तिम कारण का यूनानी शब्द है टेलेस (Telos)। उन सिद्धान्तों को, जो इस बात पर ज़ोर देते है कि कोई वस्तु अपने उद्देश्यो तक पहुँचने के लिए ही विकास का एक विशेष रास्ता चुन लेती है तथा इन उद्देश्यो के प्रभाव से ही उसकी वृद्धि होती है, टेलिओलॅजी का सिद्धात कहते है। अब टेलिओलॅजी के हेतु और यान्त्रिक हेतु का विभेद समझना आवश्यक है। यान्त्रिक हेतु मानो पीछे रह कर आगे होनेवाली बात का फैसला कर देता है। अर्थात् कारणो का यदि ठीक ज्ञान हो तो कार्य सुनिश्चित हो जाता है। यह कारण उसी प्रकार काम करते है जैसे मशीन के पुर्ज़े, जो मिल कर मशीन को चालू रखते है। टेलिओलॅजी इस बात पर ज़ोर देती है कि इन कारणो के अलावा हमको इसका भी ध्यान रखना होगा कि वह वस्तु स्वय क्या होने का प्रयत्न कर रही है।

भौतिक विज्ञान ने पहले और तीसरे कारणो को लेकर उन्नति की। लेकिन धार्मिक विचार वालो ने अतिम कारण पर सारा ज़ोर दिया। इस अतिम कारण के द्वारा ही ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए वे प्रयत्नशील थे। सब जगह जो एक सुकल्पित और सुसगठित व्यवस्था देखने मे आती है वही ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण मानी जाती है। लेकिन जीव विज्ञान के क्षेत्र के बाहर अरस्तू इस अन्तिम कारण की खोज नही करता था। इस क्षेत्र मे तो अब भी लोगो को इस अतिम कारण से सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता पडती है। जो घटनाये दृश्य-जगत् मे

घटती हैं, उनका, कल्पना के साथ मिलान करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में अरस्तू के सुनिश्चित विचार थे। एक स्थान पर वह लिखता है कि हमें बुद्धि से इन्द्रियों पर अधिक निर्भर रहना चाहिए और बुद्धि पर तभी निर्भर होना चाहिए जब इसके नतीजों में और दृष्ट घटनाओं में मेल हो।

'धारणा' के वास्तविक अस्तित्व को अस्वीकार कर अरस्तू आदर्शवाद को समूल विनष्ट करता है। उसका मत है कि 'धारणा' का अस्तित्व केवल मनुष्य के मन में है। यह 'धारणा' बुद्धि की उपज है, जो इन्द्रियानुभूत बाह्य घटनाओं के बीच एक व्यापक नियम को ढूंढ निकालती है। उसने न केवल अचेतन प्रकृति का ही एक भौतिक मूल माना बल्कि स्वयं इन्द्रियानुभूत चेतना को भी एक उत्पादित वस्तु के रूप में देखा। उसने अचेतन प्रकृति को तो भौतिक माना ही, बल्कि चेतन जीव का मूल भी उसने मूल तत्त्वों को माना। अपनी अन्तर्निहित शक्ति से ही वस्तुतत्त्व जीव-जन्तु तथा वनस्पति का रूप ग्रहण करता है, ऐसा उसका मत था। इस मत की पुष्टि के लिए उसने सड़ी लकड़ी के से कीड़ों की उत्पत्ति का, सड़े गोबर से मक्खियों की सृष्टि का तथा नम ऊन से जूं के होने इत्यादि का उदाहरण दिया।

चेतना और अचेतन प्रकृति का एक ही मूल मान कर आधिदैविक विज्ञान के जन्मदाता ने मन और पदार्थ के अदार्शनिक द्वित्व का परिहार किया, यद्यपि यह द्वित्व ही आधिदैविक विज्ञान की बुनियाद है। अरस्तू समझता था कि प्राकृतिक क्रिया-कलाप की वास्तविकता को माने बिना कोई दर्शन नहीं बन सकता। लेकिन अपने युग की अवस्थाओं में वह वास्तविकता को अनुभव के दायरे में नहीं ला सकता था। व्यष्टियों के सठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए इद्रियों को शिक्षित करने की जरूरत है और इसके लिए यन्त्रों की आवश्यकता है। इन यन्त्रों के अभाव में व्यष्टि से अधिक समष्टि पर जोर दिया गया। यह समष्टि तर्कशास्त्र का बुनियादी तत्त्व माना गया। अरस्तू की दार्शनिक प्रथा जो पहले भाग में वस्तुवाद

के रग से भरपूर है, आगे चलकर तर्क को एक अयौक्तिक स्थान देती और कुछ दोषपूर्ण हो जाती है।

उसके लिए तर्क मननक्रिया का एक अस्त्रमात्र न था, यह वाहरी वस्तुओ के निरीक्षण का भी एक सावन था। वह समझता था कि वस्तु का अस्तित्व जिस प्रकार है उसी प्रकार उसको अवगत करने से सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। फिर भी उसके लिए अवगत होने का तरीका मूर्त वस्तु का प्रत्यक्ष निरीक्षण न था वल्कि मानसिक क्रिया से ही वह अवगत होना चाहते थे। वस्तु और उनके सम्बन्धो के विषय में अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्ति की सम्भावना के लिए जव तक ज़मीन तैयार नही होती तव तक जल्दी वने हुए विचार ही, स्वतन्त्र वस्तु के रूप धारण कर ज्ञानान्वेषण के विषय वन जाते है। इस प्रकार अरस्तू अनुभव का रास्ता छोडकर मानसिक ध्यान का रास्ता लेता है। "विशिष्ट वस्तुओ का ज्ञान, जिसके द्वारा हम व्यापक-सिद्धान्तो पर उपनीत होते है, हमको प्राप्त होता है, लेकिन व्यापक सिद्धान्त स्वयं प्रकट है," इस ग़लत सिद्धान्त का परिणाम है अरस्तू का सिद्धान्त कि आत्मा ज्ञान की रश्मि के साथ ही जन्म ग्रहण करती है। यह रूढि कांट के समय तक दर्शनशास्त्र के रास्ते में एक रोडा वनी रही। आधुनिक जीवविज्ञान ने इसका अन्त कर दिया है। विकासवाद के सिद्धान्त ने यह अकाट्य रूप से प्रमाणित कर दिया है कि सस्कार या अन्तर्वोध इन्द्रिय-द्वारा किये गये अनुभव का ही नतीजा है।

अरस्तू का कहना था कि व्यापक धारणा स्वर्गलोक के किसी आदर्श का प्रतिविम्ब नही है। यह एक वास्तविकता है जो विभिन्न वस्तुओ की सम गुण-सम्पन्नता के रूप मे और उन वस्तुओ मे ही विद्यमान है। एक श्रेणीभुक्त होने के लिए जिस सम-गुण-सम्पन्नता की आवश्यकता है उसके अतिरिक्त भी कुछ न कुछ गुण हर वस्तु में होता है। सव विल्लियो मे कुछ समानता है फिर भी विल्लियाँ एक दूसरे से भिन्न है। अपनी अलग-अलग विशिष्टता रखते हुए भी वस्तुओ की एक श्रेणी हो सकती है। जिस विशेष गुण के कारण ऐसा सम्भव है वह एक मोहर जैसा है जो अपनी

छाप इन पर डालता है। यह रूप या छाप विभिन्न वस्तुओं की एक समगुणता है, जैसे एक ही साँचे में विभिन्न वस्तुओं को ढाला जा सकता है। उदाहरण के लिए पलस्तर, मिट्टी, सीमेंट, शीशा या मोम सभी को एक साँचे में ढाला जा सकता है। मन रूप को वस्तु से अलग करके सोच सकता है और इसको एक सार्वभौमिक धारणा बना देता है जैसे 'बिल्ली की धारणा'। लेकिन अनुभव में यह रूप एक विशेष बिल्ली ही की तरह दिखाई देगा।

अरस्तू के मतानुसार पदार्थ में जीवन का बीजाणु सदा से वर्तमान रहा लेकिन जीव की उत्पत्ति इतिहास के एक विशेष मुहूर्त्त में ही हुई। इस उत्तरोत्तर विकास में उन्नतरूप वस्तुत्व को अधिकाधिक नीचे दबा देता है। जीव-जगत् में वस्तुत्व पर जीवन का आधिपत्य होता है और वह इसका उपयोग करता है। मनन-क्रिया-युक्त वस्तुओं में मन अपना ढाचा बनाता है और जीवन और वस्तुतत्व दोनों को अपने उद्देश्य के लिए प्रयोग करता है। मानव उद्देश्य सर्वोन्नत रूप है और इस सतह पर रूप वस्तुतत्व पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त कर लेता है। अधिक, जब वस्तुतत्त्व का आधिपत्य होता है और रूप प्राथमिक होता है तब हम कार्य-कारण की शृंखला में बहुत अधिक बँधे हुए होते है, लेकिन ज्यो ज्यो रूप या उद्देश्य वस्तु-तत्त्व पर अपना आधिपत्य विस्तृत करता है, त्यो-त्यो स्वतन्त्रता की वृद्धि होती जाती है।

अरस्तू के रूप और श्रेणी के विचार से दो नतीजे निकलते है—

(१) सब वस्तुओ की श्रेणियाँ होती हैं और हर श्रेणी के विशिष्ट गुण होते है। दुनिया विभिन्न वस्तुओ की बनी हुई है और हर वस्तु के विशिष्ट गुण है। विज्ञान का काम है वस्तुओ को श्रेणीभुक्त करना।

(२) अब तर्क-क्षेत्र मे बुद्धि का प्रयोग सम्भव हो जाता है। यदि सब खनिज पदार्थ पानी से भारी है तो अलुमिनियम पानी से भारी है और यह पानी मे डूब जायगा। यदि सब खनिज पदार्थ बिजली का वहन करते है और टगस्टेन एक खनिज पदार्थ है तो टगस्टेन भी बिजली वहन

करेगा। वस्तुओ के गुण निर्दिष्ट हैं, तथा व्यापक धारणाओ से, परिभाषा से और श्रेणी-विषयक स्पष्ट ज्ञान से वस्तुओ के विषय-हम सव कुछ कह सकते हैं—इन्ही के आधार पर वैज्ञानिक मननक्रिया सम्भव है।

मनुष्य के विचार-जगत् तथा विज्ञान के लिए यह वहुत आगे वढा हुआ कदम था। जिस दुनिया का ढाँचा वुद्धि-प्रसूत और नियन्त्रित है और जहाँ सव वस्तुएँ नियम का अनुवर्तन करती है वह काल्पनिक नही वल्कि वास्तविक है। वस्तु और जीव जन्तु को परिभाषा जान लेने पर तर्क-शास्त्र के द्वारा विश्व के ज्ञान का मार्ग सहज है। एक वुद्धि-युक्त दुनिया को सिद्ध और स्थापित करने के प्रयन्त मे अरस्तू ने अपने उन सव पूर्वजो को परास्त किया जिनका कहना था कि दुनिया मे कोई नियम नही है या जो हेरक्लिटस की भाँति यह दलील देते थे कि सव चीजे प्रवाहमान और परिवर्तित होती रहती है। सव से पहले उसी ने ज़ोर दिया कि वास्तव जगत् नियमाधीन, वुद्धियुक्त और नियन्त्रित है। दर्शन और विज्ञान के लिए यह एक वहुत वडी प्रगति थी।

अरस्तू के दर्शन की कई कमियाँ है। अरस्तू की वस्तु के गुण निर्धारित है इसलिए सच्चे अर्थ मे कोई विकास नही हो सकता। विकास का अर्थ ही है एक रूप का दूसरे मे परिवर्तन। इस विकास का और अरस्तू के स्थिर गुणो का कोई सामञ्जस्य नही है। दुनिया की सव वस्तुओ के श्रेणीकरण का एक चित्र उसने खीचा लेकिन उनके रूपान्तरण की कोई कल्पना उसने नही की। कारण से कार्य को पहुँचना, जैसे किसी व्यापक सत्य का तार्किक परिणाम निकालना, यही अरस्तू के अनुसार, वैज्ञानिक ज्ञान है। एक दार्शनिक ने इसी का दूसरे शव्दो मे विवरण दिया है—"विचारो का सम्वन्ध और सिलसिला वही है जो वस्तुओ का है।"

अरस्तू के पश्चात् दर्शन मे धर्म और नीति पर वहुत ज़ोर दिया गया। स्टोइक्, स्केप्टिक् और एपिकुरस्, ये सव नैतिक मसलो मे उलझे रहे।

एपिकुरस—ल्युक्रेटियस कैरस की कविता, "वस्तुओ का स्वरूप" से एपिकुरस के दर्शन का पता चलता है। रोम के इस कवि ने एपिकुरस के

उच्चादर्श को इन अमर शब्दो मे चित्रित किया है—"जब धर्म आकाश से अपने खूंखार पन्जे मनुष्यों के ऊपर फैला रहा था और मनुष्य धर्म के बोझ के नीचे घुटने टेक रहा था, तब यूनान के एक महापुरुष ने उससे अपनी आँखे मिलाई और उसका सामना किया। देवताओ का क्रोध और वज्र उसको दबा नही सका और वह पहला मनुष्य था जिसने प्रकृति के सिंहद्वार को तोडा।"

जिस क्रिया से मनुष्य को सुख-प्राप्ति का ज्ञान हो, वही एपिकुरस के दार्शनिक सिद्धान्त का लक्ष्य है। इस सिद्धान्त को बिगाड कर रोमवासियो ने प्रचार किया कि 'खाओ, पिओ, और मौज करो'। अधिकतर लोग एपिकुरस को इसी भ्रष्ट रूप मे देखते है। एपिकुरस ने इस सत्य का प्रचार किया कि सुख ही जीवन का उद्देश्य है। साधारण लोगो के लिए यह क्रान्तिकारी फलदायक था। इसलिए ईसाई धर्म ने इसका खण्डन किया और अपने दुःखमय जीवन के विरोध मे विद्रोह करने से उनको रोका। एपिकुरस ने जीवन के सामने एक उद्देश्य रक्खा। यह उद्देश्य था सुख, जो विश्व-जगत् के नियमो के ज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है। जो इन नियमो को नही जानता वही अज्ञात के डर से भयभीत रहता है। इस भय से मुक्त होना ही सुख है। मृत्यु के सम्बन्ध मे एपिकुरस का कहना था कि चूँकि यह अनुभव शक्ति का अन्त कर देता है, इसलिए इससे हमको कोई घबडाहट नही होनी चाहिए। मृत्यु के आने पर हमारा अस्तित्व मिट जाता है, इसलिए मृत्यु के बाद क्या होता है, इसकी चिन्ता हमको नही होनी चाहिए। जिससे हमको कष्ट पहुँचता है वही बुरा है। मृत्यु हमको दुःख नही पहुँचाती क्योकि जब हमारा अस्तित्व ही न हो तो हमको दुःख या सुख किसी का अनुभव नही हो सकता। एपिकुरस ने यह सिखलाया कि सुख अच्छा है और दुःख बुरा। सुख इसलिए अच्छा है कि यह ज्ञान प्रसूत है और दुःख बुरा है क्योकि अज्ञानता मे इसका जन्म है। स्टोइको के मतानुसार गुण ही सुख है और एपिकुरस के मतानुसार सुखी होने के लिए मनुष्य को गुण-सम्पन्न होना चाहिए। प्रतीयमान दृष्टि से

दोनो एक समान मालूम पड़ते है, लेकिन दोनो में बहुत बड़ा अन्तर है। स्टोइको के मतानुसार गुण के लिए ही गुण को वर्तना चाहिए। गुण के वर्तने से दुःख हो सकता है, लेकिन गुण का वर्तना ही सुख है, चाहे इसका नतीजा दुःखमय हो। एपिकुरस के अनुसार गुण सुख का साधन-मात्र है। गुण तभी तक गुण है जब तक इससे सुख हो। मनुष्य तब तक सुखी नही हो सकता जब तक वह महान्, बुद्धिमान् और न्यायवान् न हो। लेकिन जो बुद्धिमान्, न्यायवान् और महान् है वह सुखी होगा ही। बुद्धिमत्ता, महत्ता और न्याय शाश्वत सत्य नही है, ये आपेक्षिक और परिवर्तनशील है, इनका निराकरण सुख के मानदण्ड से होता है; इस सुख का उद्गम है ज्ञान। ज्ञान समय के साथ परिवर्धित होता रहता है और इस प्रकार इन गुणो की कल्पना मे परिवर्तन होता रहता है।

एपिकुरस के लिए ज्ञान ही सुख का मार्ग था। इसलिए प्रकृति के अध्ययन पर उसने बहुत जोर दिया। उसने डीमोक्रिटस की प्रकृति-व्यवस्था और उसके परमाणुवाद को ही सिद्धान्त रूप से मान लिया। लेकिन इसमें उसने सामान्य सशोधन भी किया। डीमोक्रीटस के अणु शून्य मे गिरते रहते है। लेकिन अणुओ का कद चाहे जैसा हो शून्य मे सब समान गति से गिरेगे। इससे कोई जटिल गति उत्पन्न नही हो सकती जिससे विश्व का सृजन हो सके। इसलिए एपिकुरस ने ऐसा माना कि इन अणुओ की गति सीधी रेखा मे न होकर कुछ वक्र होती है। इससे उसके दर्शन का एक और उद्देश्य भी सिद्ध होता था। इससे उसने मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा को सिद्ध किया जो प्रकृति के बाहर किसी शक्ति के अधीन न हो।

परमाणुवाद के सिद्धान्त को एपिकुरस ने जिस प्रकार वर्णन किया उसमें द्वैतवाद का कोई स्थान नही है . "शून्य से शून्य की ही उत्पत्ति हो सकती है; यदि ऐसा न हो तो किसी चीज से किसी चीज की उत्पत्ति हो सकती है। जो कुछ है वह पिण्ड है, जो पिण्ड नही है वह शून्य है। अणु अविभक्त और अपरिवर्तनीय है। ये सर्वदा गतिमान् है। एक दूसरे के सामने होने पर इन अणुओ का सयोग होता है। अणुओ की गति

आदिहीन है। परिमाण, आकार और तोल को छोडकर इनका और कोई गुण नही है।"

एपिकुरस की आत्मा अणुओ का ही एक विशेष प्रकार है। वस्तु से पृथक् जीवन क्रिया को दिखलाने के लिए ही इस आत्मा की सृष्टि हुई है। एपिकुरस का दर्शन वस्तुवाद ही है। धर्म के चगुल से मुक्त होकर प्रकृति का अध्ययन करना और इसके रहस्य को सुलझाना यही सच्चे दर्शन का महान् उद्देश्य है। इसलिए एपिकुरस को सच्चे दर्शन की बुनियाद डालने का बहुत बडा श्रेय है।

नवीन अफलातूनी दर्शन—३३८ ई० में सम्राट् सिकन्दर ने मिस्र में आलेक्ज़ाड्रिया शहर बसाया। विज्ञान और दर्शन के केन्द्र रूप मे यह नगर प्रसिद्ध हो गया है। यहाँ पूरब और पश्चिम दोनो दिशाओ से विद्वान् आकर मिलते थे। इसलिए पाश्चात्य दर्शन पर ईश्वर-विद्या का गहरा प्रभाव पडा। एपिकुरस ने दर्शन को धर्म के प्रभाव से मुक्त करने का प्रयत्न किया था। लेकिन अब प्लाटिनस के प्रभाव में धर्म और दर्शन का सम्मिश्रण होने लगा। इस विचारधारा को नवीन अफलातूनी दर्शन के नाम से पुकारा जाता है। इस विचार के अनुसार यावतीय वस्तुओ की उत्पत्ति एक रहस्यमय पूर्ण सत्ता से है जो अनन्त प्रज्ञा स्वरूप भी है। इस पूर्ण सत्ता का सम्बन्ध वस्तुओ से ऐसा नही जैसा किसी बाहरी चीज़ से हो बल्कि उस प्रकार है जैसा विचार और चिन्तन-क्रिया का सम्बन्ध है। इस पूर्ण सत्ता की किसी विशिष्टता को समझने के लिए हमारे पास कोई शक्ति या साधन नही है। इससे एक सृजनकारी शक्ति विच्छुरित होती है जिसको हम ईश्वर कह सकते है। यह ईश्वर या दैव प्रज्ञा अपने अन्दर से और अपनी मनन-क्रिया के द्वारा विश्व-आत्मा की सृष्टि करती है जो एक साथ विश्व की आत्मा है और विश्व के हर व्यक्ति की भी आत्मा है। पार्थिव अस्तित्व पूर्ण सत्ता से अवनति है। यह अनादि अनन्त से विच्छेद है। यह अपूर्ण और आशिक से सम्बन्ध है, जिनसे नाता तोड कर ही हम पूर्ण सत्ता के आदर्श पर पुनः प्रत्यागमन कर सकते है। मनुष्य

इस प्रकार दो दुनियाओ का निवासी है और वह सच्चे आनन्द को भूलकर इद्रियभोग्य वस्तुओ मे डूबा रहता है—जिस अवस्था मे वह उन वस्तुओ की तरह विनाश प्राप्त होता है—या अपनी अन्तर्दृष्टि को ऊर्ध्वमुखी कर ईश्वरीय मानस के नैसर्गिक सौन्दर्य मे अमरत्व प्राप्त कर सकता है।

स्कलाष्टिकों का दर्शन—धर्म और दर्शन के समन्वय का प्रयत्न करने वाले स्कलाष्टिक के नाम से पुकारे जाते थे। इनमे दो दल थे—एक फ्रासिस्कन् दूसग डोमिनिकन्। फ्रासिस्कन् अफलातून के दर्शन से प्रभावित थे। इनमे मुख्य थे जानस्कोटस् एरिगेना (ई० ८१०–८७०), रोजेलिनस (१०५१–११२१), सेट आसेल्म (१०३३–११०९), तथा आबेलार (१०७९–११४८)। डोमिनिकन इनका विरोधी दल था। इसमे मुख्य थे ऐलवर्टस् तथा सेटटमास ऐक्विनास। ये अरस्तू के दर्शन से प्रभावित थे। ऐक्विनास के लिए वस्तु वह निर्गुण पदार्थ है, वह कच्चा-माल है जिससे सब चीजे वनती है। वस्तु को जिस शकल मे हम पाते है वह रूप है। रूप मे ही उस वस्तु के गुण निबद्ध है। वास्तव को जिस प्रकार हम जानते है वही उसका रूप है। इसी के कारण मूर्ति एक मूर्ति है, नही तो वह एक निराकार पिंड होता। रूप उतना ही वास्तविक है जितना वस्तु, वल्कि एक उच्चतर श्रेणी की वास्तविकता है, क्योकि किसी मूर्ति का रूप मनुष्य कृत कृत्रिम चीज नही है, केवल उसकी वाहरी आकृति नही है, वल्कि इसका तत्त्व है। मानो यह अन्दर और वाहर दोनो ही है। विकासवाद मे हम वस्तु को रूपान्तरित होते देखते है, यह आवुनिक विचारधारा के लिए वहुत महत्त्व की वात है। विकासवाद इस सत्य पर निर्भर है कि एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न ढाँचे वनते है। यह सोचना कि वस्तु ही अधिक सत्य है, मनुष्य जानवर का दूसरा रूप है, और जानवर अचेतन पदार्थ का दूसरा रूप है, एक भूल है। अधिक उन्नत रूप एक अधिक उच्च सत्य है। उसी वस्तु से विभिन्न सत्यो का संगठन हो सकता है। जीवित, चितनशील अनुभवपूर्ण मनुष्य भी एक ऐसा सत्य है। ऐक्वीनास

का कहना है कि वस्तुतत्त्व को तो हम इन्द्रिय के द्वारा जान सकते हैं लेकिन रूप का ज्ञान बुद्धि के द्वारा ही सम्भव है।

स्कलास्टिको ने धर्म और दर्शन का समन्वय करने का प्रयत्न किया, लेकिन इस प्रचेष्टा ने ही इनका गठबन्धन शिथिल कर दिया। स्कलास्टिक-वाद की नीव डालने वाले स्कोटस् एरिजेना ने सिखलाया कि "प्रकृति मे विवेक तो पहले से ही है, समय के साथ शासन-शक्ति की भी उत्पत्ति होती है। क्योकि यद्यपि समय और प्रकृति की उत्पत्ति साथ-साथ हुई, शासन-शक्ति आरम्भ में न थी। लेकिन विवेक तो समय और प्रकृति के साथ आरम्भ से ही है। विवेक स्वय ही हमको यह बतलाता है। क्योकि शासन-शक्ति तो निसन्देह ही विवेक से उत्पन्न हुई है, लेकिन विवेक शासन-शक्ति से अवश्य ही पैदा नही हुआ। और जो भी शासनशक्ति विवेक-सम्मत नही, वह बडी दुर्बल होती है। लेकिन सत्य विवेक को, जो अटल और अपरिवर्तनीय है और अपने ही गुणो से सुरक्षित है, शासन-शक्ति की सहायता की कोई आवश्यकता नही"।

पुनरुत्थानकाल का दर्शन—रोजेलिनस् और आबेलार ने इस विद्रोह के झण्डे को और ऊँचा किया और रोजेलिनम् को तो धर्ममत खण्डन करने के कारण शहीद होना पडा। लेकिन दर्शन को धर्म के चगुल से पूरा पूरा मुक्त करने का श्रेय रोजरबेकन (१२१४–१२९०) और लिओ-नार्दो विन्ची को है। यह यूरप में पुनरुत्थान युग का समय था और यूनान आदि के साहित्य के पुन प्रचार से विचार-स्वतन्त्रता बहुत बढ़ गई थी। यद्यपि यह धर्मसुधार का भी समय था, लेकिन सुधारको के विचार सकुचित ही रहे। स्वय कैलविन ने जो सुधार-आन्दोलन का एक बहुत बडा नेता था, सर्विटस् को, जो रक्त-सञ्चालन के तथ्य का आविष्कार करने ही को था, जिन्दा जलवा डाला। ऐसे समय में बेकन ने लिखा—
"हर विज्ञान मे हमें श्रेष्ठ उपाय का अनुसरण करना चाहिए। वह उपाय है हर अश को उचित स्थान पर अध्ययन करना, जिसका प्रथम स्थान है उसका आरम्भ में, कठिन के पहले सहज के, तथा जटिल के पहले सरल

के प्रमाण को दिखलाना होगा। यह प्रयोग विना असम्भव है। हमारे लिए ज्ञान के तीन मार्ग हैं—आप्तवाक्य, विवेक और प्रयोग। आप्तवाक्य का कोई मूल्य नही जब तक इसका कारण न दिखलाया जाय, यह सिखाता नही केवल सहमति प्रकट करता है। विचारफल को प्रयोग से प्रमाणित कर विवेक द्वारा हम ज्ञान और प्रदर्शन के प्रभेद को देख सकते है। प्रयोग ही ज्ञान-विज्ञानो मे श्रेष्ठ है।

वेकन—बेकन ने अपने नये तरीके के सम्बन्ध मे कहा कि "प्राकृतिक विज्ञान पर मनुष्य ने सब से कम परिश्रम किया, यद्यपि इसी को सब विज्ञानो की जननी समझना चाहिए। जब तक कि प्राकृतिक विज्ञान विशिष्ट विज्ञानो मे प्रवेश न करे और जब तक इन विशिष्ट विज्ञानो के आधार पर प्राकृतिक विज्ञान की सृष्टि न हो, विज्ञान की कोई उन्नति की आशा नही करनी चाहिए। मनुष्यो ने अपनी कल्पनाओ के अनुसार एक दुनिया वनानी चाही है। लोग एकाएक इन्द्रियानुभूत वस्तुओ और विशिष्ट घटनाओ से व्यापक सिद्धान्तो पर चले जाते है और इनके पीछे तर्क और दलीले चलती रहती है। रास्ता इसका उल्टा होना चाहिए। हमे क्रमश सिद्धान्त को व्यापक वनाना चाहिए। हमे विशिष्ट वस्तुओ से उन पर उपनीत होना चाहिए जो कुछ अधिक व्यापक है और फिर उन पर जो उनसे अधिक व्यापक है और इस प्रकार ऐसे सिद्धान्तो पर उपनीत होना चाहिए जो सार्वभौमिक है। इस प्रकार से जिन सिद्धान्तो पर हम उपनीत होते है, वे धुंधले नही होते वल्कि ऐसे जिनको प्रकृति स्वय स्वीकार करने के लिए वाध्य है। इन्द्रियो की गवाही को मै मानता हूँ—हाँ, उसको संशोधित करके। लेकिन इस अनुभूति के वाद की मानसिक क्रिया का मैं प्रत्याहार करता हूँ। इसकी जगह मैं मन को एक निश्चित मार्ग वतलाता हूँ, जिस पर, इन्द्रियानुभूति से उसको सीधे चलना चाहिए।"

देकार्ते—वेकन ने जो रास्ता दिखाया, देकार्ते (१५९६–१६५०) ने उसको पूरा किया—देकार्ते ने दर्शन को धर्म के वन्धन से पूर्ण रूप से मुक्त किया। देकार्ते ने कहा—ईश्वरवाद भी वुद्धि से परे की चीज नही

है। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए देकार्ते ने आनसेल्म तथा काम्पानेला की दलीलो की सहायता ली। उसने जगत् की सृष्टि के लिए एक यान्त्रिक सिद्धान्त की रचना की। वस्तु और गति के द्वारा विश्व के विकास को समझाने के लिए उसने भँवर गति का सिद्धान्त निकाला। प्राचीन परमाणुवाद में दूर से प्रभाव डालने वाली गलती को सुधारने का उसने प्रयत्न किया। पदार्थ का प्रधान गुण है फैलाव, इस-लिए जहाँ फैलाव है, वहाँ पदार्थ भी है। इस आधार पर रिक्त स्थान के अस्तित्व को उसने अस्वीकार किया। उसने यह माना कि यह रिक्त स्थान कोणयुक्त कणो से भरा है। सब पदार्थ गतिशील हैं। उनके घर्षण से इन कणो के कोण घिस जाते है और ये गोल बन जाते है। छोटे छोटे कण घिसकर एक प्रकार के सूक्ष्म पदार्थ बन जाते हैं। पहले प्रकार के कणो से सूर्य तथा और प्रकाशवान् वस्तुएँ बनती हैं। दूसरे प्रकार के कणो से आकाश बनता है। एक तीसरे प्रकार के कण होते है जो अधिक स्थिर होते है। इनसे पृथ्वी आदि बनती है जिनके अन्दर से होकर रोशनी नही जा सकती। इनकी गति, वृत्ताकार लहरो जैसी, यानी भँवर गति होती है। मोटी वस्तु भँवर के बीच इकट्ठा होती रहती है और दूसरे पदार्थ इसको घेरे रहते हैं। ग्रह-नक्षत्रादि भँवर गति से सूर्य के चारो ओर घूमते रहते है।

देकार्ते के दार्शनिक सिद्धान्तो की बुनियाद है प्रज्ञावाद। दार्शनिक समस्याओ में एक मुख्य समस्या है कि ज्ञान हमको कहाँ से प्राप्त होता है और यह ज्ञान कहाँ तक ठीक है। प्रज्ञावाद इसका एक उत्तर है। साधारण तौर पर इसका सिद्धान्त यह है कि मन में कुछ बने बनाये सिद्धान्तो का अवस्थान है और इन्ही सिद्धान्तो पर बुद्धि को सञ्चालित करने से हर पदार्थ के विषय में सारे सत्य का ज्ञान हो सकता है। ऐसा समझा जाता था कि जैसे दो-एक बुनियादी बातो के सहारे कुल गणित का महल खडा किया जा सकता है वैसे ही एक अच्छा दार्शनिक विश्व-ससार के कुल सत्य का आविष्कार कर सकता है। इसलिए प्रज्ञावादी दार्शनिक वह है जो यह

समझता है कि बुद्धि के द्वारा ही और बिना अनुभव के दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और यही सत्य ज्ञान है। यदि जगत् एक गणित की समस्या होती तो बुद्धि के लिए प्रज्ञावादी दार्शनिक का दावा सच होता। लेकिन जगत् ह वह गणित नही है। निर्धारित घटनाएँ भी इसमे सम्मिलित है और वहाँ तक यह गणित की तरह है, यह हिस्सा बुद्धि का विषय है। लेकिन अनिर्धारित घटनाएँ भी इसमे शामिल है और इस अर्थ मे यह गणित से भिन्न है। निर्धारित घटना का उदाहरण है जैसे, किसी त्रिभुज के तीनो कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते है। यह निर्धारित घटना इसलिए है कि त्रिभुज की परिभाषा से ही यह निर्धारित हो जाती है। इस प्रकार की घटनाओ का बुद्धि से आविष्कार किया जाता है और एक बार बुद्धिगम्य होने पर अधिक उदाहरणो की आवश्यकता नही रह जाती। निर्धारित घटना के और कुछ होने की कल्पना भी नही की जा - सकती। अनिर्धारित घटनाएँ वे हैं जो किन्ही पूर्व घटनाओ के ऊपर निर्भर नही है। वे आवश्यक रूप से किसी घटना का फल नही होती। उदाहरण के लिए किसी पदार्थ-विशेष का पीला होना, जिसका विशिष्ट गुरुत्व सोने के समान हो, बुद्धि से आविष्कार करने की चीज नही है। इस प्रकार दार्शनिको मे एक दल पैदा हो गया जिसका कहना था कि विश्व को जानने का एक ही उपाय है और वह है उसके सस्पर्श में आना और उसका अनुभव करना। दूसरे शब्दो में बुद्धि यह तो बता सकती है कि एक वस्तु 'क' के अस्तित्व का क्या परिणाम होगा, लेकिन बुद्धि यह नही बता सकती कि 'क' का अस्तित्व है भी या नही। जो घटनाओ के अवलोकन या अनुभव को ही ज्ञान का मार्ग बताते है उनको अनुभववादी दार्शनिक के नाम से पुकारा जाता है। अनुभववादियो ने दुनिया के क्रूर सत्यो पर ज़ोर दिया है। मनुष्य काम करने के लिए स्वतन्त्र है अथवा दुनिया किसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए आगे चल रही है, इस प्रश्न पर अनुभववादियो को सन्देह है। ससार आध्यात्मिक है, ईश्वर का अस्तित्व है, यह बाते अनुभव की नही है। जब अनुभववादी

उन बातो को अस्वीकार करता है जिनका अनुभव इन्द्रियो के द्वारा नही किया जा सकता तो वह आध्यात्मिकता पर विश्वास नही कर सकता। इसलिए इनका दर्शन आदर्शवादी न होकर व्यावहारिक है। इनके प्रभाव से साधारण बुद्धिवाले मनुष्य के वैज्ञानिक दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। प्रज्ञावादी दार्शनिक के लिए ससार का ज्ञान उसकी बुद्धि के ऊपर निर्भर है। बुद्धि की प्रक्रिया के द्वारा उसने यह सिद्ध किया कि जगत् मौलिक रूप से आध्यात्मिक है। बुद्धि की योजना के द्वारा, भिन्न प्रकार की दलीलो से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। जब अनुभव-वादी बुद्धि-सिद्ध आध्यात्मिक जगत् का खडन करता है तो प्रज्ञावादी कहता है कि इन्द्रियानुभव मायामात्र है।

देकार्ते एक प्रज्ञावादी दार्शनिक थे। वह एक विख्यात गणितज्ञ भी थे और उनका दर्शन गणित-प्रधान है। जैसे कुछ स्वय सिद्ध सत्यो के अनुमान के आधार पर गणित-शास्त्र का अस्तित्व है, देकार्ते के अनुसार मनुष्य के भी कुछ ऐसे सहज प्रत्यय हैं जिनके आधार पर विश्व की सम्पूर्ण बातें जानी जा सकती है।

ऐसा कोई ज्ञान (सहज प्रत्यय) हमको प्राप्त है भी या नही, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। एक उदाहरण ले लीजिए—दो और दो मिलकर चार होते है। यह सही है कि कुछ ठोस पदार्थों की गिनती के अनुभव से ही हम इस नतीजे पर पहुँचते है, लेकिन इसके लिए यह आवश्यक नही कि सब प्रकार के पदार्थो की गिनती का हमें अनुभव हो। दो एक बार मिलाकर ही हम इस व्यापक सत्य पर पहुँच जाते है। इसलिए यह नही कहा जा सकता कि इस व्यापक सत्य का ज्ञान अनुभव के ऊपर निर्भर है यद्यपि एक दो अनुभव के बाद ही इस सहज प्रत्यय की ओर हमारी दृष्टि जाती है। वह ज्ञान जो अनुभव से प्राप्त न हो सहज प्रत्यय कहलाता है। मानो यह ज्ञान हमको सदा से ही रहा है लेकिन ज्ञान-दृष्टि के खुलने के लिए दो एक बार अनुभव की आवश्यकता है।

यद्यपि इस प्रकार के सहज प्रत्यय अथवा स्वत प्राप्त ज्ञान का अस्तित्व

अवस्थाएँ गोटो के समान है जो आत्मारूपी धागे मे बँधी हुई है तो ह्यूम का कहना है कि इन गोटो के अस्तित्व का तो प्रमाण है लेकिन इस धागे के अस्तित्व का कोई प्रमाण नही। उपर्य्युक्त वाक्य की दूसरी कठिनाई यह है कि इससे ऐसा भ्रम फैलता है कि मन को वाहरी वस्तुओ की अपेक्षा अपनी अवस्थाओ का अधिक ज्ञान है। इससे वाहरी दुनिया का अस्तित्व खत्म हो जाता है, केवल एक मानसिक कल्पना की दुनिया रह जाती है।

इसका एक अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि देकार्ते को शरीर से मन को पूर्ण रूप से पृथक् कर देना पडा। उस समय गति-विज्ञान की प्रभूत उन्नति हो रही थी और यह समझा जाता था कि कुछ अवस्थाओ का ज्ञान होने पर वस्तु की गति का ठीक-ठीक हिसाव लगाया जा सकता है। यदि ऐसा है तो वस्तु की गति यान्त्रिक है और पहले से निर्धारित है। शरीर भी वस्तुकणो का वना हुआ है, इसलिए इसकी गति भी यान्त्रिक तथा पूर्व निर्धारित है। अव, मन का यदि शरीर से कोई पार्थक्य नही तो इसकी भी कोई स्वतन्त्रता नही रह जाती, इसकी गति भी पूर्व निर्धारित होनी चाहिए। लेकिन यह नतीजा उन दार्शनिको के लिए अपाच्य है जो मन को स्वतन्त्र देखना चाहते है। उनको देकार्ते के साथ यह मानना पड़ता है कि मन शरीर के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त है।

देकार्ते के कथनानुसार ईश्वर ने दो पदार्थ वनाये, मानस और वस्तु। मन की वृत्ति है चिन्तन और वस्तु की विशेषता है फैलाव। ये दोनो एक दूसरे से इतने भिन्न है कि एक का दूसरे पर कोई प्रभाव नही। मन और शरीर जैसे दो समानान्तर रेखाएँ है जिनका ऐसा सम्वन्ध है कि यदि एक में कोई घटना घटती है तो दूसरे में भी अनुरूप घटना घटती है। परन्तु जिस प्रकार दो घडियो के एक साथ वजने से उनमे कोई सम्बन्ध स्थापित नही होता उसी प्रकार मन और शरीर का भी कोई वास्तविक सम्बन्ध नही है। यह तो ईश्वर की कृपा है कि शारीरिक और मानसिक क्रियाओ मे इस प्रकार का सामञ्जस्य हो जाता है जिसके विना मनुष्य जीवन

सम्भव नही। इस प्रकार देकार्ते के दर्शन के पीछे ईश्वरीय माया का एक वहुत वडा अश है।

देकार्ते के दार्शनिक विचारो का दो दिशाओं मे विकास हुआ। इनमे से एक आधुनिक भौतिकवाद है और दूसरी आदर्शवादी धारा है जो इसके विरुद्ध है। पहली के प्रवर्तक है स्पिनोजा (१६३२–१६७७) और दूसरी के लाइबनिट्स् (१६४६–१७१६)।

स्पिनोज़ा—स्पिनोज़ा ने प्रज्ञावाद को चरम सीमा तक पहुँचाया। प्रज्ञा को उन्होने सब अनुशासनो के ऊपर आसन दिया। यहाँ तक कि, उन्होने यह माँग पेश की कि धर्म-ग्रन्थो की भी उसी प्रकार छान-वीन होनी चाहिए जैसे किसी और ऐतिहासिक दस्तावेज की। बुद्धि या प्रज्ञा का विशेप काम यही है कि वस्तुओ के आपसी सम्वन्वो की खोज और छान वीन करे। इसलिए यह प्राकृतिक घटनाओ के आतरिक सम्वन्ध को समझाने के लिए किसी अति प्राकृतिक शक्ति के दखल के दावे को अस्वीकार करता है। स्पिनोज़ा ने प्रकृति की जो कल्पना की, उसमे मानसिक, आत्मिक, भौतिक, मानवीय तथा ईश्वरीय सभी चीज़ो के लिए स्थान है। वास्तव मे स्पिनोज़ा के लिए ईश्वर और प्रकृति एक ही है। सम्पूर्ण ईश्वर है और ईश्वर सम्पूर्ण है।

स्पिनोज़ा के दर्शन के मुख्य आधार है—अस्तित्व-मात्र का एकत्व, घटनाओ की नियमानुवर्तिता, तथा भूत और आत्मा का समत्व। ये भौतिकवादी सिद्धान्त है, लेकिन सर्वभूत मे ईश्वर को देखनेवाले स्पिनोज़ा के लिए यावतीय पदार्थो का मूल है "आत्मामय भूत।"

हो और प्रकृति के बाहर हो। समग्र सृष्टि और ईश्वर समपर्यायवाचक है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह विचार विविध मूल पदार्थों के बहुत्व का परिहार करता है और शून्य से सृष्टि की समस्या को उलझन से हमको बचाता है। प्रकृति अथवा ईश्वर की कल्पना एक अनन्त और पूर्ण की कल्पना है जिसके बाहर कोई चीज़ नही है। कोई अतिप्राकृतिक शक्ति इस सृष्टिचक्र के बाहर नही है। प्रकृति स्थाणु नही है बल्कि गतिशील है और सब प्रकार की शक्तियाँ इसमे वर्तमान हैं। हर एक मूल शक्ति ईश्वर का अग है। मनुष्यो को केवल दो अगो की अनुभूति है, एक व्यापकता और दूसरी मनन शक्ति या बाह्य शक्ति तथा मानसिक शक्ति। भौतिक पदार्थ तथा घटनाएँ व्यापकता मे सम्मिलित है और मन तथा मानसिक अनुभूतियाँ मनन शक्ति के अन्तर्हित हैं। शरीर और मन के बीच परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया का कारण यह है कि दोनो एक ही अन्तिम सत्ता के विभिन्न रूप है जो एक ही समय विराजमान होते है। लेकिन साथ ही साथ स्पिनोज़ा का कहना है कि विचार अस्तित्व से सम्बन्वित है और मन पदार्थ का विपरीत भाग है। पदार्थ की गति के अनुरूप मन की भी गति होती है और आन्तरिक नियम-बन्धन बाहरी नियम बन्धन का प्रतिबिम्ब-मात्र है। जिस किसी चीज की धारणा बुद्धि-द्वारा होती है, उसका अस्तित्व बाहरी दुनिया मे है। दूसरे शब्दो मे विचार बाहरी वस्तुओ की प्रतिकृति-मात्र है। कार्यकारण के सम्बन्ध पर स्पिनोज़ा का प्रभूत विश्वास था। उन्होने यह दलील दी कि लोहा पीटना तभी सम्भव है जब हथौडी हो। लेकिन हथौडी बनाने के लिए एक और हथियार चाहिए और इस प्रकार अनन्त तक एक कार्यकारण की शृखला है। इसका भौतिक आधार स्पिनोज़ा के प्रसिद्ध प्रवचन में स्पष्ट हो जाता है कि कोई दो चीज़े एक दूसरे पर प्रभाव नही डाल सकती जब तक दोनो में कोई समान गुण न हो। यदि इस दृष्ट दुनिया की सृष्टि उसी अवस्था में हो सकती है कि आत्मा भूत को प्रभावित कर सके तो इन दोनों मे कोई गुण समान होना ज़रूरी है। इस दशा मे मूलत दोनो एक हैं।

अन्तिम कारण के सिलसिले में स्पिनोज़ा का कथन उल्लेखनीय है। "मनुष्य किसी उद्देश्य से सब कुछ करता है चाहे किसी भलाई के लिए या किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए। यही कारण है वह सदा चीज़ो के अतिम कारण जानने की चेष्टा करता है। अपने अन्दर और बाहर दोनो जगह अपनी सुविधा प्राप्त करने का साधन उसको दिखलाई पडता है, जैसे देखने को आँख, चबाने को दाँत, रोशनी के लिए सूरज और मछली पालने के लिए समुद्र इत्यादि। इसलिए वह समझता है कि उसी के उपयोग के लिए सब चीज़े बनी है। चूँकि ये चीज़े उसको बनानी नही पडी बल्कि मिल गईं इसलिए वह समझता है कि किसी ने इन चीज़ो को उसके व्यवहार के लिए ही बनाया है। वह ऐसा विश्वास नही कर सकता है कि ये चीज़े बनाई नही गई है बल्कि स्वय ऐसी बन गई है। अपने अभ्यास की दुहाई देकर वह यह कहता है कि जैसे हम वस्तुओ को अपने उपयोग के लायक वना लेते है उसी प्रकार प्रकृति के अधीश्वर ने प्रकृति को हमारे व्यवहार के उपयुक्त बनाया होगा। इस प्रकार यह अन्तिम कारण रूढि की भाँति मनुष्य के मस्तिष्क मे बस गया है। प्रकृति में मनुष्योपयोगी वस्तुओ के अतिरिक्त बहुत सी हानिकर तथा विषैली चीज़े भी है या होती है, जैसे तूफान, ज़लजला, बीमारी आदि। मनुष्य ने अनुमान किया कि ये इसलिए होती है कि देवताओ का कोप उन पर होता है। यद्यपि धार्मिक और अधार्मिक दोनो ही कोप के पात्र होते है लेकिन फिर भी उनकी रूढि मिटती नही। बुद्धि से नया मार्ग आलोकित करने की अपेक्षा अज्ञान के अन्धकार मे निवास करना अधिक सहज था।"

स्पिनोजा ने ईश्वर के स्थान पर प्रज्ञा को प्रतिष्ठित किया। लेकिन इसके अचूक होने का क्या प्रमाण है? निर्मूल विचार कैसे सम्भव है? दर्शन की यह एक मुख्य समस्या है—"क्या अनुभव के अतिरिक्त और इससे स्वतन्त्र कोई विचार हो सकता है? इसका उत्तर 'हाँ' मे देनेवाले आदर्शवादी है और 'ना' मे देनेवाले भौतिकवादी है।

हॉब्स—हॉब्स (ई० १५८८ से १६७९) ने नास्तिकता को चरम सीमा

पर पहुँचाया। केवल भौतिक घटनाओ को ही नही, दुनिया की हर चीज़ को उसने यान्त्रिक व्याख्या-द्वारा समझाने की कोशिश की। यह व्याख्या भौतिकवाद की भी आखिरी हद थी। इसके अनुसार केवल वस्तु और गति अन्तिम सत्य है। ये बाकी सब चीज़ो के मौलिक तत्व हैं। यहाँ तक कि मनुष्य के ज्ञान की बुनियाद भी ये ही है। क्योकि इद्रियानुभव से ही ज्ञान की उत्पत्ति है और इद्रियानुभव का अर्थ ही है इद्रियो पर वस्तुओ का दबाव। वास्तव में इद्रियानुभव और विचार, गति-विशेष ही है और मन एक भौतिक पदार्थ है। हर वस्तु का यह मौलिक गुण है कि वह अपनी वर्तमान अवस्था मे ही रहना चाहती है, वह अवस्था चाहे गतियुक्त हो चाहे गति-विहीन।

हॅब्स ने लिखा, "हम जो कुछ कल्पना करते है वह सीमायुक्त है। इसलिए कोई विचार, किसी चीज़ की धारणा असीम नही हो सकती। कोई मनुष्य असीम समय या असीम शक्ति की धारणा नही कर सकता। जब हम किसी चीज़ को असीम कहते है तब हमारा अर्थ यही होता है कि हमको उसकी सीमा का कोई ज्ञान नही है, या दूसरे शब्दो में उस वस्तु के विषय मे हम अपनी अज्ञता प्रकट करते है। ईश्वर का नाम इस-लिए नही लिया जाता कि उसकी धारणा हम कर सके (क्योकि वह अज्ञेय है और उसकी शक्ति धारणातीत है) बल्कि इसलिए कि हम उसकी पूजा करे। इद्रियानुभूति के बाहर हम किसी चीज़ की धारणा नही कर सकते।"

लाइबनिट्स—लाइबनिट्स (१६४६–१७१६) ने भौतिकवाद का खण्डन करने का प्रयत्न किया। भौतिकवाद को विध्वस करने के लिए उन्होने परमाणुवाद के सिद्धान्त को सशोधित रूप मे रक्खा। यह प्रमाणित करने के लिए कि निर्जीव भूत से विश्व की सृष्टि नही हुई, उसने यह बताया कि अणु अनुभवयुक्त हैं, अनुभव-शक्ति अणुओ का स्वाभाविक गुण है। लाइबनिट्स के अणु आध्यात्मिक अणु है जिनका नाम उसने दिया "मोनाड"। "भौतिक अणुओ का स्थान बुद्धियुक्त कण ले लेते है; भौतिक का स्थान अतिभौतिक ले लेता है"। लेकिन यह आध्यात्मिक कण स्वतन्त्र

नहीं है। ये एक "पूर्व सुसगति सामजस्य" के नियमानुवर्ती है और यह नियम यान्त्रिक है। 'मोनाड' असख्य 'और असमान है। ये 'मोनाड' (शक्याणु) मानो एक एक छोटी छोटी दुनिया है और एक दूसरे पर इनका कोई असर नही। जो परस्पर सम्वन्ध इनका प्रतीत होता है वह भगवान् की महिमा है। ईश्वर ने जैसे कई एक घडियाँ वना रक्खी है जो एक साथ समय वताती है। ये 'मोनाड' अनन्तकाल से है और किसी ने इनको सृष्ट नही किया। लेकिन लाइवनिट्स को एक सृष्टिकर्ता की ज़रूरत थी। इसलिए कार्यकारण के सूत्र को मानते हुए भी उसने एक स्थान पर इसको तोड दिया और उस स्थान पर सृष्टिकर्त्ता को वैठा दिया। यह सूत्र इस प्रकार छिन्न हो गया कि इस सृष्टिकर्त्ता का कोई कारण नही है। वह स्वयभू है। लेकिन यह सृष्टिकर्त्ता अपनी सृष्टि मे कोई दखल नही दे सकता। सृष्टि तो 'पूर्व सुसगति सामजस्य का' नियमानुवर्ती है। 'मोनाड' को भी सृष्टिकर्त्ता की कोई आवश्यकता नही क्योकि इसका विकास अपनी अर्न्तनिहित शक्ति मे ही होता है। ये 'मोनाड' भ्रूणस्थित आत्मा है, जीव, निर्जीव, पशु, मानव सभी इसमे सम्मिलित है। मानस और शरीर के द्वित्व का अन्त तो 'मोनाड' करना ही है, मनुष्य और मनुष्येतर पशुओ के मौलिक गुण-विभेद का भी यह अन्त करता है।

लाइवनिट्स ने देकार्ते के आदर्शवाद की नीव को और मजवूत वनाया। आदर्शवाद वस्तु को माया समझता है और आदर्शवादी दुनिया मे हर एक वस्तु मानसिक है। देकार्ते के इस कथन ने, कि मन को केवल अपनी ही अवस्थाओ का प्रत्यक्ष ज्ञान है, इस आदर्शवाद की वुनियाद डाल दी थी। लाइवनिट्स ने दो प्रकार से इस वुनियाद को और मजवूत किया।

वस्तु के अस्तित्व मे विश्वास करने का क्या कारण है? साधारण मनुष्य का उत्तर यही होगा कि इन्द्रियो-द्वारा हम, वाहरी वस्तुओ का जो प्रत्यक्ष अनुभव करते है, उसी से हमको वस्तु का ज्ञान है। कहने का तात्पर्य यह है कि जव हम किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करते है तो हम

ऐसी चीज़ के सस्पर्श मे आते है जो हमारे मन से भिन्न है लेकिन जिसका प्रभाव हमारे मन पर पडता है, जिस कारण हम यह कहते है कि हम उस वस्तु का प्रत्यक्षीकरण कर रहे है। लेकिन लाइवनिट्स के लिए यह स्वीकार करने का अर्थ होता कि एक 'मोनाड' दूसरे 'मोनाड' पर प्रभाव डाल सकता है, क्योकि विश्व मे केवल 'मोनाड' का अस्तित्व है और वाहरी वस्तु 'मोनाडो' का एकत्रीकरण-मात्र है। इसलिए प्रत्यक्षीकरण के विषय मे लाइवनिट्स का मत यह था कि देखनेवाले मोनाड मे जो क्रिया होती है उसी के समानान्तर मे उस 'मोनाड' मे क्रिया होती है जिसको देखा जाता है।

तथ्य यह निकलता है कि जो हमारे ही अन्दर न घटती हो ऐसी किसी घटना की हमको अनुभूति नही होती। इसलिए हमको वाहरी दुनिया की कोई अनुभूति नही। चूँकि हमारे अन्दर की घटनाएँ जिनकी हमको अनुभूति है, मानसिक घटनाएँ हैं—जैसे विचार, भाव, इच्छा आदि, इसलिए नतीजा यह निकलता है कि दुनिया ऐसी ही घटनाओ से वनी है। लाइवनिट्स के एक-दूसरे कथन से इसका कुछ विरोध प्रतीत होता है। वह कथन यह है कि विश्व का अर्थात् दूसरे 'मोनाडो' का अस्पष्ट प्रकार से प्रत्यक्षीकरण करने के कारण ही हम वस्तु पर विश्वास करते हैं। विभिन्न 'मोनाडो' के मानसिक विकास का स्तर भिन्न है। उदाहरणार्थ मनुष्य का शरीर असख्य 'मोनाडो' से सगठित है, लेकिन उसका मन या उसकी आत्मा, जो इस सगठन का नेतृत्व करती है, एक ही मोनाड की बनी होती है। विश्व के विषय मे इन 'मोनाडो' के विचार समान रूप से स्पष्ट नही होते। अनुन्नत 'मोनाड' की दृष्टि धुंधली होती है। मनुष्य के मन जैसे उन्नत प्रकार के 'मोनाड' की दृष्टि भी कुछ धुंधली होती है जिसके कारण वह विश्व को मानसिक 'मोनाड' के सग्रह के रूप मे न देखकर व्यापक वस्तुओ के रूप मे देखता है। केवल ईश्वर की दृष्टि मे जो सर्वोन्नत 'मोनाड' है, विश्व आत्मनिर्भर 'मोनाडो' का सगठन है। इस प्रकार वास्तव और प्रतीति मे भेद उत्पन्न होता है—वह दुनिया

जो वास्तविक है और जो झूठे रग मे हमारे सामने आती है। दर्शनशास्त्र में इसका महान् प्रभाव पडा।

लॅक (१६३२ से १७०४) ने दर्शनशास्त्र के क्षेत्र को संकुचित करना चाहा। उसका कहना था कि सृष्टिविषयक खोज में पडना व्यर्थ है। हमको पहले यह जान लेना चाहिए कि हमारा ज्ञान कहाँ तक पहुँच सकता है और किन वस्तुओ का ज्ञान हमको प्राप्त हो सकता है। इसके उत्तर में उसने इन्द्रियानुभूतिवाद की स्थापना की। इसके अनुसार हमारा ज्ञान अनुभूति पर निर्भर है। इन अनुभूतियो पर मनुष्य विचार कर सकता है और इनको मिलाकर एक जटिल सम्पूर्णता की भी सृष्टि कर सकता है। लेकिन इनमे कोई नई चीज़ वह नही जोड सकता। यह अनुभूति अधिक से अधिक वस्तुओ के प्राथमिक गुणो—जैसे व्यापकता, बनावट, अवस्था (ठोस, तरल आदि) सख्या और गति इत्यादि के अनुकरण मात्र है। दूसरे प्रकार के गुण—जैसे रग, गध, शब्द और स्वाद की अनुभूति, ज्ञाता के ऊपर प्राथमिक गुणो के प्रभाव-मात्र है।

प्रज्ञावादियो के इस कथन का, कि अनुभूति के अतिरिक्त भी हमको कुछ स्वय प्राप्त ज्ञान है, लॅक ने खडन किया। लेकिन पूरे तौर से नही, क्योकि लॅक ने यह मान लिया कि हमको जिन गुणो की अनुभूति है वे किसी वस्तु के गुण है, यद्यपि हमको उन गुणो की ही अनुभूति है न कि उस वस्तु की। इसलिए वस्तु का ज्ञान स्वय प्राप्त ज्ञान है। लॅक की धारणा यह थी कि वस्तु निर्गुण है और इसकी अनुभूति हमको तव होती है जब इसमे कुछ गुणो का सम्मेलन हो। इसको लेकर विशप बर्कले ने यह सिद्ध किया कि वस्तु कोई चीज़ नही, केवल मन और मन-द्वारा कल्पित गुण ही हैं।

भौतिकवादी विचारधारा—एक ओर से तो इन्द्रियानुभूतिवाद आदर्शवाद मे परिणत हुआ और दूसरी ओर यह भौतिकवाद मे परिणत हुआ। बेकन ने इस भौतिकवाद की बुनियाद पहले ही डाल दी थी, हॅब्स ने इसको पुष्ट किया और फ्रान्सीसी दार्शनिक कॅनडिलाक ने इसका विस्तार किया।

कॅनडिलाक लॉक से एक कदम और आगे बढ़ा। उसका कहना था कि विचार से ज्ञान उत्पन्न नही होता। ज्ञान का एकमात्र उद्गम इन्द्रियानुभूति है। उसका कहना है कि मन एक वृत्तिमात्र है जिसमे बाहरी वस्तुओ और इन्द्रियो के सयोग द्वारा और वृत्तियो का विकास होता है। इन्द्रियो से स्वतन्त्र विचारशक्ति के अस्तित्व को मानने से उसने इकार किया। ज्ञान और इन्द्रियानुभूति को उसने बिलकुल एक कर दिया। इरासमस डारविन ने इस सिद्धान्त को और मौलिक रूप मे रक्खा। उसने विचार की परिभाषा इस प्रकार की—"यह उन रेशो का सकुचन, उनकी गति या रूप मे परिवर्तन है, जिनसे इन्द्रियाँ बनी होती है।" इन्द्रियो की गति, जो विचार का दूसरा नाम है, मास-पेशियो की गति से भिन्न है। उसने इन्द्रियानुभूतिवाद को पूरे तौर पर न माननेवालो से यह प्रश्न किया कि यदि "हमारी स्मृति-शक्ति या कल्पना जीवगति नही है तो यह क्या है? तुम कहते हो कि यह वस्तुओ का चित्र या प्रतिकृति है। यदि ऐसा है, तो इतना बडा चित्रपट कहाँ टँगा है? या इतने पात्र कहाँ है जिनमे इनका सग्रह होता है? ये प्रतिकृतियाँ आलोक के नियम की अगीभूत है न कि जीवन के नियम की।" इन्द्रियानुभूतिवादी अपने को इस गतानुगतिक विश्वास से मुक्त नही कर पाते थे कि मनुष्य मे एक आत्मा का निवास है जो बाहरी वस्तुओ की छाप को ग्रहण करता है। इरासमस डारविन ने इस विचार के खोखलेपन को दिखलाया। डारविन तथा हार्टले आदि वैज्ञानिको को खोजो का अन्तिम परिणाम यह निकला कि बाहरी वस्तुओ के सस्पर्श से स्नायुओ के द्वारा जो एक शारीरिक क्रिया होने लगती है उसी से विचार उत्पन्न होते है।

कॅनडिलाक के शिष्य कावानी ने इन्द्रियानुभूतिवाद को बहुत सुन्दर रूप से रखा। उसके विचारो का सक्षिप्त नतीजा यह है —

"मनुष्य की इन्द्रियो पर बाहरी वस्तुओ की क्रिया प्रतिक्रिया की जो छाप पडती है वही उसका ज्ञान है तथा उसके अस्तित्व का कारण है; क्योकि जीवन अनुभव है, और उन घटनावलियो की अद्भुत शृखला

मे जिसको अस्तित्व कहते है, हर एक जरूरत किसी मानसिक वृत्ति के विकास के ऊपर निर्भर है। हर एक वृत्ति अपने विकास के साथ किसी न किसी जरूरत को पूरा करती है, ज्यो ज्यो कि आवश्यकताओ को पूरा करने की वृत्ति के साथ आवश्यकताये बढती रहती है त्यो त्यो अभ्यास से वृत्तियाँ परिवर्धित होती है। मनुष्य की इन्द्रियो पर बाहरी वस्तुओ के लगातार घात-प्रतिघात का ही नतीजा है उसके अस्तित्व का सबसे अद्भुत अंश।"

अठारहवी सदी के फ्रांसीसी भौतिकवाद को "प्राकृतिक प्रथा" नामक पुस्तक मे लिपिबद्ध किया गया।

यह पुस्तक हालवाश के नाम से प्रकाशित की गई, लेकिन वास्तव मे यह किताब कई लोगो ने मिलकर निकाली थी, जिनमे दीदेरो वफ्रो, दत्रेसी हेलवेशियस आदि के नाम प्रसिद्ध है। मनुष्य कैसे सुखी हो सकता है? यह पुस्तक इस प्रश्न का उत्तर देती है। इसके मुखबन्ध मे ही उत्तर का साराश है—मनुष्य दुखी इसलिए है कि वह प्रकृति को गलत समझता है। उसके ऊपर रूढियो का बोझ इतना अधिक है कि ऐसा मालूम होता है कि वह सदा ही गलतियो का शिकार बना रहेगा। बचपन से ही वह मायापाश मे ऐसा बँधा हुआ है कि बडे मुश्किल से उसको मुक्त किया जा सकता है। मनुष्य, प्रकृति के अध्ययन से मुख मोड कर भूत-प्रेत का पीछा करने लगा जिन्होने उसको सत्य के सीधे रास्ते से बहका दिया और जिससे बहक कर वह सुखी नही हो सकता। इसलिए हमारे अन्ध-विश्वास ने हमको जिन बुराइयो मे डाल दिया है उनसे मुक्त होने का उपाय प्रकृति मे ही खोजना चाहिए। सत्य एक है और उससे कभी हानि नही पहुँच सकती। भूल ही उस दुखदायी शृङ्खला का कारण है जिससे पुरोहित वर्ग और अत्याचारियो ने राष्ट्रो और जातियो को बाँध रखा है। भूल ही से वह बन्धन है जिसके अधीन जातियाँ है, भूल ही से धर्म की भीषणता है जिसके कारण मनुष्य भयभीत है और छाया और मृगतृष्णा के पीछे एक-दूसरे का गला घोटता है। भूल ही से है घृणा और क्रूर दमन; वह

निरन्तर खून-खराबी और पृथ्वी पर उस दुखान्त नाटक का अभिनय जो स्वर्ग में हित के लिए किया जाता है। हमको अपने अन्धविश्वासो को दूर करना चाहिए और मनुष्य के साहस को बढाना चाहिए और उसको प्रोत्साहन देना चाहिए कि वह अपनी बुद्धि के प्रति श्रद्धावान् हो। यदि कोई स्वय भ्रममुक्त नही हो सकता तो कम से कम उसको ज्ञान के रास्ते मे रोडा नही बनना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि दुनिया के निवासियो के लिए सबसे जरूरी चीज़ न्याय, सदिच्छा और शान्ति है।"

अठारहवी सदी के फ्रान्सीसी दार्शनिको ने भौतिकवाद के जो मौलिक सिद्धान्त रखे वे सक्षेप मे ये है—

"प्रकृति वह पूर्ण है जिसका मनुष्य अश है और जिसके द्वारा वह प्रभावित होता है। अतिप्राकृतिक पुरुष कल्पना-प्रसूत है। मनुष्य एक भौतिक अस्तित्व है और उसका नैतिक अस्तित्व उसकी भौतिक प्रकृति का एक अग-विशेष है, उसके काम करने का एक विशेष ढग है जो उसके विशिष्ट सगठन का परिणाम है। दुनिया में वस्तु और गति के अलावा और कोई चीज़ नही है। दुनिया कार्यकारण-सबध की एक अनन्त शृङ्खला है। विभिन्न वस्तुओ की एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है और उनके विभिन्न गुण और सयोग ही हमारे लिए किसी वस्तुविशेष की प्रतिकृति है। किसी वस्तु का प्रकार उसके गुणो और क्रिया के तरीक़ो का जोड है।

बर्कले—बर्कले (१६८५–१७५३) एक आदर्शवादी दार्शनिक था। उसने अपने समय के भौतिकवाद के विरुद्ध एक जिहाद जारी रक्खी। उसकी दलीलें अधिकतर लॅक की दलीलो के खण्डन में ही दी गई है। बर्कले ने यह तो मान लिया कि इन्द्रियानुभूति किसी बाहरी कारण से ही होती है, लेकिन इस कारण को भौतिक न मानकर उसने आध्यात्मिक करके माना है। उसकी दलील मोटे रूप से इस प्रकार है—"हम जो कुछ अनुभव करते है, वह है गुण। यह मानसिक अनुभूति है। लॅक का यह कहना ठीक नही है कि इन गुणो के पीछे कोई गुण-रहित पदार्थ है। हम किसी ऐसे पदार्थ की

कल्पना नही कर सकते जो गुण-रहित हो। गुणो के कारण ही पदार्थ का अस्तित्व है। यदि गुण हटा लिए जाएँ तो कोई पदार्थ ही न रह जाए। हम वस्तु को नही जान सकते। हमको केवल गुणो की ही अनुभूति है। इसलिए पदार्थ भौतिक नही मानसिक है। मानसिक गुणानुभूति का कारण है ईश्वर। ईश्वर के विधान से ही हमको अनुभूति होती हैं। पदार्थ का अस्तित्व उसकी अनुभूति पर ही निर्भर है। यदि अनुभूति नही है तो पदार्थ का अस्तित्व नही है। तो क्या मेरी ही अनुभूति दुनिया है? नही, मेरी अनुभूति न होने पर भी वह ईश्वर की अनुभूति के अन्तर्गत हो सकता है।"

प्रश्न हो सकता है कि यदि भौतिक वस्तु धारणामात्र है तो उन वस्तुओ के परस्पर सम्बन्ध मे एक नियम की प्रतीति कैसे होती है? बर्कले ने उत्तर दिया कि धारणाओ के परस्पर सम्बन्धो का नियामक ईश्वर है और इन धारणाओ के परस्पर सम्बन्ध का नियम ही पदार्थों का नियम जैसा जान पडता है। वास्तव है केवल ईश्वर अथवा वे आत्माएँ जिनकी उसने सृष्टि की है और वे धारणाएँ तथा अनुभूतियाँ जिनका नियामक भी वही ईश्वर है।

वर्कले की दलील सुनिए :—खयाल कीजिए कि मै अपनी जीभ से अपने दाँतो को छू रहा हूँ और अपने से आप यह प्रश्न करता हूँ—"मै क्या अनुभव कर रहा हूँ?" इसका सहज उत्तर होगा कि दाँतो के अस्तित्व की चेतना मुझमे हो रही है। लेकिन क्या यह उत्तर सही है? वास्तव में जिसका मै अनुभव कर रहा हूँ क्या वह मेरी जिह्वा की एक अनुभूति नही है?—वह अनुभूति जिसका कारण है जिह्वा और दाँतो का सस्पर्श। और क्या अनुभूति एक मानसिक पदार्थ नही है? अनुमान कीजिए कि मैं अपनी उँगलियो को मेज़ के ऊपर दबाता हूँ, तो क्या जिस चीज़ का मैं अनुभव करता हूँ, वह मेज है? जो उत्तर एकाएक सामने आता है, जाँच करने पर वह गलत साबित होता है। वर्तमान अनुभव का विषय, जिसकी चेतना हमको है, मेरी उँगलियो मे एक अनुभूति है। इस क्षेत्र मे अनुभूति कठोर-

पन, चिकनेपन और ठडेपन की है। एक और उदाहरण लीजिए। अगर मै आग से एक गज की दूरी पर रहूँ तो मुझे गर्मी अनुभव होती है और मैं यह कहता हूँ कि गर्मी आग का एक गुण है। लेकिन यदि मैं आग के और नज़दीक जाऊँ तो गर्मी बढने लगती है और पीड़ा होने लगती है। यह पीडा अवश्य ही मुझमें है न कि आग मे, और पीडा चूँकि गर्मी का ही एक बढा-चढा रूप है, नतीजा यह निकलता है कि गर्मी भी मेरी एक अनुभूति है न कि आग का एक गुण। किसी किसी कीटाणु का पैर इतना छोटा होता है कि मै विना खुर्दबीन के सहारे उसको देख नही सकता। तो क्या मै यह समझूँ कि वह कीटाणु अपना पैर स्वय नही देख सकता ? ऐसा सभव नही। तो नतीजा यह निकालना पडेगा कि देखनेवाले के मन के गुणानुसार यह पैर लम्वा या छोटा होता रहता है, दूसरे शब्दो में कीटाणु के लिए पैर की लम्बाई एक है और हमारे लिए दूसरी। लेकिन एक ही समय पैर की दो लम्बाइयाँ नही हो सकती, इसलिए माप हमारी दृष्टि का एक गुण है न कि उस वस्तु का जिसको हम देखते है। दूसरे शब्दो में माप वस्तुओ का असली गुण नही है, यह केवल एक आपेक्षिक गुण है जो देखनेवाले के मन के ऊपर निर्भर है।

इस प्रकार की दलीलो से यह दिखलाया जा सकता है कि वस्तुओ के प्रतीयमान गुण जाँच करने पर देखनेवाले की मन की अनुभूतियाँ ही जान पडती है। दृष्टि-विज्ञान के सिद्धान्त से भी इस नतीजे पर पहुँचना पडता है। दृष्टि की अनुभूति को ले लीजिए। इस क्रिया का सक्षेप में यह वर्णन किया जा सकता है, वस्तु आलोक की किरणे फेंकती है जो आकाश में चलकर आँखो के परदे के ऊपर पडती है। यह परदा स्नायु-कणो का वना होता है और किरणो के कारण इनमें गति उत्पन्न हो जाती है। यह गति आँखो के स्नायु के रास्ते चलकर मस्तिष्क को सन्देश पहुँचाती है, जहाँ के कणो मे एक स्पन्दन होने लगता है। इसी स्पन्दन से, यह कोई नही जानता कैसे, एक चेतना उत्पन्न होती है जिसको हम वस्तु

के दर्शन का नाम देते है। इसी प्रकार सुनने की क्रिया है। आवाज़ वायु-मडल मे एक प्रकार का स्पन्दन है, यह कान के परदो पर पडता है। स्नायुओ के द्वारा यह प्रभाव मस्तिष्क तक पहुँचता है। मस्तिष्क के स्नायु-कणो मे एक खलबली मच जाती है जिसके कारण एक चेतना की उत्पत्ति होती है और इसी को हम सुनना कहते है।

उपमा की भाषा मे हम यह कह सकते है कि मस्तिष्क एक अँधेरी कोठरी है जिसमे एक प्रज्वलित पट है और इसको प्रज्वलित करती है चेतना। बाहरी दुनिया की वस्तुये जिनका हम अनुभव करते है हमारी इन्द्रियो मे उत्तेजना डाल देती है। इन्द्रियाँ और स्नायु उत्तेजना को अँधेरी कोठरी तक पहुँचा देती है। नतीजा यह होता है कि इन उत्तेजनाओ के कारण-स्वरूप उन वस्तुओ का चित्र या प्रतिकृति प्रज्वलित पट पर पडती है। इसलिए जब हम यह कहते है कि किसी वस्तु को हम जानते है तो इसका अर्थ यह है कि उस वस्तु का चित्र या प्रतिकृति मस्तिष्क-रूपी अँधेरी कोठरी के उस पट पर पडती है जिस पट को चेतना प्रज्वलित कर रखती है। इस प्रकार ज्ञान-क्रिया मे तीन अग सम्मिलित है, (१) मन जो जानता है, (२) बाहरी वस्तु, (३) उस वस्तु की प्रतिकृति जो चेतना के पट पर पडती है। (१) मन, (३) प्रतिकृति को तो जानता है लेकिन (२) वस्तु का उसको कोई ज्ञान नही है, न हो ही सकता है क्योकि (१) और (३) के बीच मे (२) सर्वदा बाधा-स्वरूप उपस्थित हो जाता है। प्रश्न यह उठता है कि क्या (२) का रखना ज़रूरी है? ,अगर हम (२) को जान नही सकते तो हम यह कैसे कह सकते है कि (२) के ही कारण (३) की उत्पत्ति होती है?

आखिर यह कहा जायगा कि हमारे ज्ञान की विषयीभूत जो धारणाये और अनुभूतियां है इनके कारण स्वरूप कोई वस्तु तो होगी ही। वस्तु हमारी चेतना के अन्तर्भूत अपनी प्रतिकृति से भिन्न भले ही हो लेकिन हमारे बाहर और हमसे स्वतत्र उनकी एक दुनिया होनी ही चाहिए। यही लॅाक का कथन है। लेकिन वर्कले का सिद्धान्त लॉक के सिद्धान्तो

से दो दिशाओ में भिन्न है। एक तो यह कि प्राथमिक और दूसरे गुणो के विभेद को वह मिटा देता है और दूसरा यह कि वस्तु का भी वह लोप कर देता है।

दोनो बातो को एक एक करके लीजिए। जहाँ तक गुणो का सम्बन्ध है, प्राथमिक और दूसरे गुणो का विभेद मनमाना है। जिन दलीलो से एक अप्राथमिक गुण, उदाहरणार्थ गर्मी, को अनुभव करनेवाले के मन की एक धारणा बताया जाता है उन्ही दलीलो से शक्ल या बनावट या ठोस होना जैसे प्राथमिक गुणो को भी धारणा कहा जा सकता है। दोनो मानसिक अनुभूतियाँ है और इन दोनो में विभेद करने का वास्तव में कोई कारण नही है।

अब दूसरी बात को ले लीजिए। किसी वस्तु-विशेष के गुणो को एक एक करके अलग कर लीजिए। क्या रह जायगा? जलेबी ले लीजिए, यह कुरकुरी, रसीली, मीठी इत्यादि होती है, एक एक करके सब गुणो को हटा लीजिए, क्या रह जायगा? वह क्या है जिसके ये सब गुण थे और अब नही है? कह सकते है कि यह जलेबी का वह अवशिष्ट है जो इसके रग, स्वाद आदि निकालने के बाद रह जाता है। लेकिन क्या कोई अवशिष्ट रह जाता है? अगर हाँ, तो इसलिए कि उसके कुछ गुण अब भी बाकी बचे है। यदि ये गुण भी हटा लिए जायें तो बाकी कुछ नही बचता। अर्थात् कोई ऐसा मौलिक पदार्थ नही है जिसमें ये गुण मिलते है और जो स्वय इन गुणो से रहित है। दूसरे शब्दो मे लॅक का 'पदार्थ' कपोल-कल्पित मात्र है। गुण यदि देखनेवाले के मन की धारणामात्र है और गुण की बुनियाद मे कोई पदार्थ नही है, तो रह गया केवल मन। वस्तु मरीचिका-मात्र है। इसका अर्थ यह नही कि दैनिक जीवन के परिचित पदार्थ कुर्सी, मेज़ आदि का कोई अस्तित्व नही है, लेकिन यह कि ये विश्लेषण करने पर मन की धारणा जान पडती है। ज्ञानगोचर होने पर ही इन वस्तुओ का अस्तित्व निर्भर है। बर्कले के मतानुसार धारणा हमारे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखती। उनका स्वतत्र अस्तित्व है, क्योकि इन

धारणाओ का निवास ईश्वर के मन मे है। प्रत्यक्ष ज्ञान और कल्पना में यही अन्तर है। जिन धारणाओ की हम कल्पना करते है उनका ज्ञान ईश्वर के मन को नही है; वे हमारे ही मन की सम्पत्ति है। ईश्वर के मन को हमारी उन्ही धारणाओ का ज्ञान है जिनको हम प्रत्यक्ष करते है। इसलिए, वर्कले के सिद्धान्त के अनुसार, यदि हम उसका प्रत्यक्ष अनुभव न करे तो भी वाहरी दुनिया का अस्तित्व कायम रहता है क्योकि ईश्वर के मन मे यह विराजमान रहता है।

ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास की बुनियाद पर बर्कले का सारा दर्शन प्रतिष्ठित है। इस अस्तित्व को अप्रमाणित करने से यह सारा दर्शन टूट जाता है। वर्कले की दलील की कमजोरी यह है कि वह चीज़ो को तो मानता है लेकिन उस पदार्थ को नही मानता जिससे कि ये चीज़ें बनी है। आज के प्रयोग विज्ञान ने इस पदार्थ का भी विश्लेषण किया है, इसलिए आज यह नही कहा जा सकता कि यह भ्रम मात्र है। बर्कले की दर्शनिक प्रथा, सब अभौतिकवादी दर्शनो की तरह, चेतना की धारणा के साथ प्रतिष्ठित रहती है या टूट जाती है। यह प्रथा तभी तक तर्क सगत प्रतीत होती है जव तक चेतना को एक स्वतत्र सत्ता मान लिया जाय जो प्रत्यक्षानुभूति के वाद आती है और जो इसके द्वारा प्रभावित होती है। लेकिन यदि इस स्वत. सिद्ध चेतना को मानने से इन्कार किया जाय, जैसा कि वर्तमान शरीर रचनाशास्त्र हमको वताता है तो आदर्शवाद निराधार हो जाता है। मन जैविक पदार्थ (Organic matter) का एक गुण है।

कान्ट—कान्ट (ई० १७२४–१८०४) दार्शनिक होने के साथ ही साथ एक बहुत बड़ा गणितज्ञ भी था। उसकी पुस्तक 'प्रकृति का सावारण इतिहास और ऊर्ध्वलोक का सिद्धान्त' विख्यात है। कान्ट ने ह्यूम के संदेहवाद मे विज्ञान का उद्धार करने का प्रयत्न किया लेकिन साथ ही साथ धर्म की प्रतिष्ठा को भी कायम रखना चाहा।

कान्ट का कहना था कि दो अलग अलग राज्य है जिनमें दो विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निवास है। एक मे है वह वस्तु जैसी कि वह अस-

लियत मे है (Noumena)और दूसरे मे है उसका वह रूप जैसा कि वह ज्ञाता को प्रतीत होता है (Phenomena)। इस पार्थक्य के कारण हम वस्तु-स्वरूप को (जैसा कि वह वास्तव मे है) नही जान सकते। ऐसा कहने का कारण क्या है ?

कान्ट के अनुसार मन के साथ जुडी हुई कुछ व्यापक धारणाएँ होती है जिनमे कुछ का नाम उसने दिया" स्वत प्राप्त ज्ञान के रूप", (विस्तार, समय) और कुछ को ज्ञान के सिद्धान्त' (उदाहरणार्थ परिमाण, गुण और कार्य-कारण सबंध)। जो कुछ हम जानते है वह इस ढाँचे के अन्दर ढल कर आता है और इसलिए इसके अनुरूप होता है। इस ढाँचे के अन्दर पडने से यह किंचित परिमाण मे परिवर्तित हो जाता है। दूसरे प्रकार से हम ऐसा कह सकते है कि किसी वस्तु को जानने के लिए ज्ञाता कुछ शर्त लगाता है। इन शर्तों के कारण, ज्ञात होने के पूर्व वह वस्तु जैसी थी उससे ज्ञात वस्तु कुछ विभिन्न वन जाती है। एक उदाहरण से यह और स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिए कि जन्म भर के लिए एक जोडा नीला चश्मा नाक मे चिपकाकर मेरी पैदाइश होती है।"जो कुछ मै देखूँगा वह नीला होगा और इसलिए मै कहूँगा कि नीला होना एक सार्वभौमिक और सर्वव्यापी गुण है। लेकिन मेरा यह कहना गलत है क्योकि नीला-पन वस्तुओ का निजी गुण नही है वल्कि उसका कारण है वे अवस्थाएँ जिनमे मै उनको देखता हूँ। दूसरे शब्दो मे मेरे देखने की शर्त ही है कि मै उनको नीला देखूँ। कान्ट के मतानुसार मन के साथ कुछ मानसिक चश्मे लगे होते है जिनके कारण ज्ञात वस्तु कुछ परिवर्तित हो जाती है जैसे कि नीले चश्मे के कारण वस्तु नीले रग की दिखाई देती है। इसी उपमा के अनुसार मन के साथ दो प्रकार के चश्मे लगे होते है। एक है स्वत प्राप्त ज्ञान के रूप (विस्तार और समय)। हमारी इन्द्रियानुभूति समय और विस्तार के अधीन है। वाहरी जगत की ज्ञात घटनाएँ समय और विस्तार मे घटित होती है ।

जव हम वाहरी दुनिया का अनुभव करते है तो असलियत मे जो चीज

दी रहती है वह रूपहीन कच्चा माल है, जिसको कान्ट 'वस्तु' कहता है। स्वत प्राप्त ज्ञान के रूप के रास्ते जब यह कच्चा माल मस्तिष्क में पहुँचता है तब ऐसा प्रतीत होता है कि यह विस्तार और समय के साथ सम्बन्धित है। हर एक चीज़, जिसको हम जानते है, या तो यहाँ मालूम पडती है या वहाँ, वह या तो 'तब' अथवा 'अब' मे मालूम पडती है। इस प्रकार स्वत प्राप्त ज्ञान के रूप के कारण सारी दुनिया, समय और विस्तार से बँधी जान पडती है।

अब दूसरे जोडे चश्मे का काम शुरू होता है जिसको कान्ट कहता है "कैटिगोरिज़"या 'समझ के सिद्धान्त'। इसके उदाहरण है गुण, परिमाण, पदार्थ और कार्य-कारण-सम्बन्ध। जिन चीज़ो को हम जानते है, उनके ऊपर जब हम विचार करते है तब हमको महसूस होता है कि हर चीज़ एक पदार्थ है, एक परिमाण है, कुछ गुणो का समूह है, कुछ चीज़ों का असर और कुछ का कारण है। इसलिए कान्ट जब यह कहता है कि "समझ के सिद्धान्त" के रूप के भीतर से किसी चीज़ की हमको जानकारी होती है तब उसका अर्थ यह है कि अनुभव के विषय के साथ मन कुछ मानसिक चीज़ो को मिला लेता है जैसे गुण, परिमाण इत्यादि। इसलिए जिस चीज़ की हमको जानकारी होती है वह एक सम्मिश्रित वस्तु है। उसमे कुछ तो रूपहीन पदार्थ होता है, जिसको, 'सहज प्रत्यय के रूप' और 'समझ के सिद्धान्त' मिलकर ऐसा बना देते है, कि हमको न केवल उस वस्तु की जानकारी होती है, वल्कि उसको हम पहचान सकते है। इसी के द्वारा जब रास्ते पर आदमी की शक्ल का कोई जाता है तो उसकी पहचान कर सकते है कि वह आदमी है। कैटिगोरी या मन का अस्त्र, प्रत्यक्षीभूत ज्ञान को पारस्परिक-सम्बन्ध-ज्ञान, या नियमो के ज्ञान में परिणत करता है। यह अनुभव को विज्ञान में रूपान्तरित कर देता है।

उपर्युक्त कार्यवाहियाँ, मन की उन कार्यवाहियो की पूरी सूची नही है, जो कि वह इन्द्रियानुभूत रूपहीन वस्तु पर करता है, लेकिन इससे पता चलता है कि अनुभूति के साथ साथ मन कितना कार्यरत रहता है।

दुनिया जैसी कि हम उसे जानते है, यानी जानने की प्रक्रिया में जिस दुनिया का मन आंशिक रूप से परिवर्तन करता है, उसका नाम कान्ट ने रक्खा है—"फेनोमेना" (प्रतीयमान जगत्), इस जगत् के लिए बर्कले का सिद्धान्त लागू है। लेकिन दुनिया जैसी कि वह वास्तव मे है, जो हमारे ज्ञान पर आधारित नही है, उसका नाम कंट ने रक्खा "नूमेना" (वस्तु-स्वरूप)। इस दुनिया के लिए बर्कले का सिद्धान्त लागु नही होता।

काट के सिद्धान्त दर्शन के एक और मौलिक प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करते है। प्रश्न यह है, कि वस्तुओ के व्यवहार मे मनन-क्रिया का नियम क्यो लागू होता है? तर्क के नियम और गणित के अक मानसिक उपज है, वे यह वर्णन करते है कि मानसिक क्रिया कैसे चलती है। हम सोचते है कि तीन और दो मिलकर पाँच होते है, हर कार्य का एक कारण होता है, ऐसा नही हो सकता कि कोई पेड आम का हो और न भी हो, क्योकि हमारा मन ऐसा ही बना हुआ है। ऐसा सम्भव है कि कुछ जीवो का, जिनका मानसिक सगठन भिन्न है, इन विषयो पर विचार भी भिन्न हो। जैसी हमारे मन की धारणाएँ है, दुनिया वैसी ही है, अथवा यह कि हमारे मानसिक विचार की शैली वस्तुओ के आचरण पर भी लागू होगी, ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नही।

विज्ञान मे यह जिज्ञासा और तीव्र हो जाती है। विज्ञान का रास्ता गणित के तर्क और अनुभववाद के बीच का रास्ता है। गणित की तरह विज्ञान में भी तर्क का स्थान है, लेकिन भेद यह है कि विज्ञान वास्तव के अनुभव द्वारा इस तर्क को जाँच लेता है, सक्षेप में वैज्ञानिक नतीजो की जाँच की जाती है। गणित की सत्यता कोई समस्या नहीं है क्योकि गणित के नतीजो को वास्तव द्वारा जाँचने की आवश्यकता नही। इन्द्रियानुभूति भी कोई समस्या खडी नही करती, क्योकि हमारी इन्द्रियां है और हम अनुभव करते हैं। समस्या यह है कि गणित के तर्क का प्रयोग अनुभूति के क्षेत्र मे क्योकर होता है? ऐसा होता है, विज्ञान इसका प्रमाण है; क्योकि वैज्ञानिक प्रक्रिया यही है—तर्क सिद्ध ज्ञान का प्रयोग वस्तुओ के

आचरण के क्षेत्र मे किया जाता है। उदाहरण के लिए विज्ञान माध्याकर्षण के नियम का आविष्कार करता है और उसके आधार पर भविष्यवाणी करता है कि वस्तुओ का आचरण इसके अनुसार होगा। और ऐसा होता है। दूसरे शब्दो में वैज्ञानिक नियम तार्किक बुद्धि का अनुभूति के क्षेत्र में प्रयोग है। समस्या यह है कि तर्क से हम जिस बात का अनुमान करते है वह प्रयोग में सही क्यो उतरती है ?

इस समस्या पर कान्ट का उत्तर हमको एक बार फिर प्रज्ञावाद और इन्द्रियानुभूतिवाद के झगडे में डाल देता है। यह तो स्पष्ट ही है, कि जिन वस्तुओ का हम इन्द्रियो से अनुभव करते है और जिनको हम बुद्धि-द्वारा ग्रहण करते है, उनमे अन्तर है, जैसे दो जोडी वस्तुओ का एक बच्चा द्वारा चार गिना जाना और बुद्धि-द्वारा इस व्यापक सत्य पर उपनीत होना कि दो और दो चार होते है, ये दोनो बाते भिन्न है। हमारी व्यापक धारणाएँ हमारी विशिष्ट इन्द्रियानुभूतियो से पृथक् है, इन दोनो के रूप तथा प्रयोग की दिशाये भिन्न है, इसलिए यह प्रश्न उठता है कि हमारी स्वत. प्राप्त धारणाओ का अथवा सहज प्रत्यय का प्रयोग इन्द्रियानुभूति के विषयो पर क्योकर होता है ? उदाहरण के लिए, किसी दो वस्तुओ के बीच आकर्षण का यह नियम, कि यह उनकी दूरी के वर्गफल के विपरीत अनुपात में होता है, व्यवहार-क्षेत्र मे क्यो लागू होगा ?

यही प्रश्न प्रज्ञावादी और इन्द्रियानुभूतिवादी के बीच झगडे की जड़ था। प्रज्ञावादी इन्द्रियानुभूति के विषय को ही उडा देना चाहता है; उसके लिए दुनिया कार्य-कारण-सम्बन्ध से बँधी हुई है—एक वस्तु को जानने से ही सारी दुनिया का ज्ञान हो जाता है, क्योकि यह उसी का अवश्यम्भावी परिणाम है। उसके लिए कोई ऐसी वस्तु नही जिसका अस्तित्व घटनामात्र है। सोने का रग पीला है और इसका एक विशिष्ट गुरुत्व है, इस विशिष्ट गुरुत्व और पीले रग का बराबर साथ है। लेकिन इनका कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नही है। इसलिए इस सारी घटना को ही प्रज्ञावादी उडा देना चाहता है। इन्द्रियानुभूतिवादी कहता

है कि बुद्धि से किसी विषय का अस्तित्व नही जाना जा सकता; इसके लिए एक ही उपाय है—वास्तविकता का प्रत्यक्षीकरण। जिस प्रकार प्रज्ञावादी के लिए प्रत्यक्षानुभूति का कोई स्थान नही है, उसी प्रकार इन्द्रियानुभूतिवादी के लिए उन व्यापक सिद्धान्तो का कोई स्थान नही, जिन पर पहुँचने के लिए हम दृश्य वस्तुओ का एकत्रीकरण करते हैं, उनका सिलसिला जोडते है और उनकी तुलनात्मक आलोचना करते है। इसलिए यदि इन्द्रियानुभूतिवादी सही है तो बुद्धि-प्राप्त ज्ञान असम्भव हो जाता है, यदि प्रज्ञावादी सही है तो यह समझाना असम्भव है कि जानने की भी कोई वस्तु है। लेकिन यह तो स्पष्ट है कि हम अपनी अनुभूतियो पर बुद्धि का प्रयोग करते हैं और इस प्रकार जिन नतीजो पर पहुँचते है उनका प्रयोग भी हम अपनी पारिपार्श्विक दुनिया पर करते है। समस्या थी इन दोनो के बीच एक सामञ्जस्य स्थापित करने की।

अनुभव के समक्ष प्रत्यक्षानुभूति का विषय मात्र होता है, लेकिन उससे हम व्यापक सिद्धान्त पर उपनीत होते है, जो कि प्राकृतिक नियमो की तरह प्रकृति पर लागू होता है। प्रश्न यह है कि यह क्योकर सम्भव होता है? इसका उत्तर काट ने यह दिया कि अनुभूति का विषय कच्चे माल की तरह नही होता जिससे कि हम वस्तुस्वरूप का अनुभव कर सकें। हमारी अनुभूति का विषय वह वस्तु नही है जैसा कि वह वास्तव में है, वल्कि वह वस्तु, जिसको हमारी बुद्धि ने ज्ञान-प्राप्ति की क्रिया में कच्चे माल से तैयार माल में परिणत कर दिया है। इस कारण यह तो उम्मीद की ही जा सकती है कि यह वस्तु उन नियमो का पालन करेगी जिनसे हमारी बुद्धि इनको मण्डित करती है। चूँकि इन्द्रियानुभूति का विषय कच्चे माल की तरह नही है वल्कि ज्ञान-प्राप्ति की क्रिया मे तैयार माल की तरह वना दिया गया है, इसलिए इस पर प्रज्ञावादी का बुद्धि-सिद्धान्त लागू होता है। यह कहा नही जा सकता कि ये नियम वस्तु-स्वरूप (वस्तु जैसा कि वह है) पर लागू होते है या नही, लेकिन यह कोई महत्त्व का विषय नही, क्योकि वस्तु-स्वरूप का हम जानते ही नही।

दर्शनशास्त्र को कान्ट का सबसे बडा दान यह है कि उसने अनुभवकर्त्ता की क्रियाशीलता पर जोर दिया है। प्रत्यक्षीकरण करते हुए मन निष्क्रिय नही बल्कि क्रियाशील रहता है। मन प्रकृति के लिए नियमदाता का काम करता है और यह विधान देता है कि किन शर्तों पर और किन रूपो में हमारी जानी हुई दुनिया हमारे सामने आयेगी। जब हम यह प्रश्न करते है कि प्रतीयमान जगत् के विषय मे हमे स्वत प्राप्त ज्ञान किस प्रकार होता है, तो काट का यह उत्तर है कि जो कुछ दिखाई देता है, इस ज्ञान ने ही उसकी सृष्टि की है। कार्यकारण के सम्बन्ध का नियम नि सन्देह एक मानसिक अस्त्र है, लेकिन यह नियम सारी दुनिया के लिए लागू है— जिस दुनिया को हम जानते है। क्योकि वह दुनिया जिसको हम जानते है इसी मानसिक अस्त्र की उपज है। वस्तुओ के विषय मे हमारा स्वतः प्राप्त ज्ञान वही है जिसको हमने स्वय उनके अन्दर भरा है।

यह स्वत प्राप्त ज्ञान (सहज प्रत्यय के रूप, यथा विस्तार और समय, और विचार की श्रेणियाँ, यथा पदार्थ और गुण, कार्य और कारण आदि) अतीन्द्रिय है, क्योकि यह ज्ञान अनुभव से प्राप्त नही होता; स्वय अनुभव इसके बिना सम्भव नही। लेकिन स्वत प्राप्त ज्ञान के इन रूपो का प्रयोग अनुभव के क्षेत्र के बाहर नही किया जा सकता। उदाहरण के लिए ईश्वर और भविष्य जीवन मनुष्य के अनुभव के बाहर है, दलीलो से न तो इनको प्रमाणित किया जा सकता है और न अप्रमाणित किया जा सकता है। परन्तु इन पर विश्वास किया जा सकता है, किसी तथ्य की बुनियाद पर नही बल्कि व्यावहारिक कारणो से। मन के क्रिया-कलाप वास्तव के अन्तर्गत है। उत्तरदायित्व की भावना, वीरता के प्रति श्रद्धा, सौन्दर्यानुभूति की पुलक, मनुष्य की इच्छा की स्वतत्रता, ये इतने ही सत्य है जैसे आग की गर्मी, या ग्रह-नक्षत्रो की गति। सकीर्ण विज्ञान के हेतु इनसे मुंह नही मोड़ा जा सकता।

काट का नीति-विषयक सिद्धात अनोखा है। उसने मानसिक शक्तियों को तीन हिस्सो मे विभाजित किया है.—इन्द्रिय, बुद्धि और इच्छाशक्ति।

वाहरी दुनिया का जो कुछ हमारे सामने आता है, उसको इस योग्य वनाने के लिए कि ज्ञान उसको ग्रहण कर सके, बुद्धि और इन्द्रियो का प्रयोग किया जाता है। लेकिन किसी चीज़ के करने की इच्छा करते समय हमे जो ज्ञान होता है वह न तो इन्द्रियभूत है, न बुद्धिभूत। यहाँ कोई वाहरी दुनिया नही जिसके और हमारे बीच बुद्धि और इन्द्रियाँ दखल दे सकें। इच्छाशक्ति का सचालन अपने साथ स्वतत्र कार्यशीलता की एक शक्ति ला देता है, जिसके कारण हम इच्छानुसार इन्द्रियभूत तथा बुद्धिभूत ज्ञान का प्रयोग करते हैं। यह कार्यकारण के उस नियम से, जिसका सारी दुनिया पर प्रभुत्व है, एक मुक्ति की भावना ला देता है।

काट का कहना है कि जव इच्छा से प्रेरित होकर कोई काम करते है तो हम स्वतत्र नही होते। हमारी इच्छाओ के मूल दो ही समझे जा सकते है। या तो इनका कारण शारीरिक घटनाएँ है या मानसिक वृत्तियाँ। शारीरिक घटना—जैसे शरीर मे रासायनिक पदार्थ की कमी के कारण भोजन की इच्छा, या अवयव के सगठन के एक विशेष अवसर पर काम-तृप्ति की इच्छा। मानसिक वृत्ति—जैसे क्रोधी स्वभाव। यदि किसी का क्रोधी स्वभाव है तो आप कह सकते है कि वह क्रोधवश हो जायगा। उसके स्वभाव का यदि पूरा ज्ञान हो तो आपकी भविष्यवाणी सही उतरेगी। इसी वात को हम इस प्रकार कह सकते है कि यदि स्वभाव हमे किसी काम को करने के लिए वाध्य करता है तो हमारी इच्छा और कार्य स्वतन्त्र नही कहे जा सकते।

काट के मतानुसार कामाधीन जीव होने के नाते हम प्रतीयमान जगत् के अश है और हमारे इच्छा-जनित कार्य और भावनाएँ भौतिक जगत् की वस्तु की गति की तरह पूर्व निर्धारित है, यानी, वे कार्यकारण के नियम के अधीन है। लेकिन जव हम अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा निर्धारित किए हुए नियम के अनुसार चलते है, तव हम प्रतीयमान जगत् के ऊपर उठ जाते है और वास्तव-जगत् के सस्पर्श मे आ जाते हैं। और जहाँ तक मनुष्य अपनी प्रकृति के नियमानुसार स्वतन्त्र

रूप से इच्छाशक्ति का प्रयोग करता है, वह स्वयं वास्तव-जगत् का अश है।

मनुष्य राग-विराग-मय ससार का निवासी होने के नाते, प्रतीयमान जगत् की तरह कार्य-कारण-सम्वन्ध के नियम के अधीन है। लेकिन जब वह अपनी इच्छा और आवेष्टन के वावजूद भी नीति का नियम और अपने कर्तव्य का पालन करता है तव वह स्वतन्त्र है। इससे भी अधिक, वह नीतिवान् है, कारण यह है, चूँकि, इच्छाशक्ति नैतिक नियम की जन्मदात्री है, स्वतन्त्र रूप से काम करने का अर्थ ही सत्य-पथ पर चलना है। काट ने कहा कि इस दुनिया मे या इस दुनिया से परे पवित्र इच्छा के सिवा किसी चीज़ को विना किसी शर्त या हिचक के साथ अच्छी नही कहा जा सकता। लेकिन उचित काम क्या है? काट ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया उससे हमको कोई विशेष मदद नही मिलती। इच्छाशक्ति का यह नियम है कि हम उन व्यापक सिद्धान्तो का अनुसरण करे जिनको हम स्वत नीतियुक्त समभते है। ये सिद्धान्त ऐसे है, जो वावजूद अपनी हालात या जरूरत के, हर एक के लिए मान्य है, उदाहरणार्थ—असत्य न वोलना, निर्दयता से दया अच्छी है, वेईमानी से ईमानदारी अच्छी है इत्यादि। ये वुद्धि के प्रतिकूल भी नही है। वल्कि इसके विपरीत, यदि हम इच्छाशक्ति-प्रसूत कार्यो की वुद्धि (जिस बुद्धि का काट ने 'व्यावहारिक वुद्धि' नाम दिया है) द्वारा जाँच करे तव हम यह महसूस करते है कि इच्छा-शक्ति जिन सिद्धान्तो का प्रवर्तन करती है वे ही ऐसे है जिनमें कोई अन्तर्विरोध नही है। उदाहरण के लिए, हर एक सच वोले, इसमे कोई अन्तर्विरोध नही है। अव, यदि हर एक भूठ वोले तो कोई किसी का विश्वास नही करेगा और भूठ वोलने का कोई मतलव नही रह जायगा। जव काट कहता है कि नीति-विगर्हित काम अन्तर्विरोधी है तव उसका यही मतलव है। ऐसी भूठी नीति का सार्वजनिक प्रयोग नही हो सकता क्योकि यह निरर्थक हो जाती है। इसलिए ऐसी नीति के अनुसार काम करो

जिसके सार्वजनिक प्रयोग मे तुम्हे कोई आपत्ति न हो, यह काट का महान् उपदेश है।

साधारण नैतिक सिद्धान्त की शक्ति और प्रकृति के वर्णन के आधार पर काट के इस वचन की सार्थकता हो सकती है, लेकिन प्रतिदिन के जीवन की वास्तविकता मे यह हमें कोई रास्ता नही दिखाता। सत्य बोलना—इसी को ले लीजिए। काट के अनुसार यह बाध्यतामूलक है और इसमें कोई व्यतिरेक नही हो सकता। परन्तु वास्तव जीवन मे ऐसे अवसर आते है जब झूठ बोलना ही अच्छा होता है, क्योकि सच बोलने से हानि हो सकती है। उदाहरण के लिए एक अच्छे आदमी को ले लीजिए जो खून किये जाने के डर से छिपा हुआ है। क्या खूनी को उस आदमी का पता बता देना चाहिए जिसको वह खून करना चाहता है ?

हेगेल

हेगेल—(१७७०–१८३१) ने आदर्शवादी दर्शन को चरम सीमा तक पहुँचाया। काट की वस्तुस्वरूप-सम्बन्धी धारणा का हेगेल ने प्रत्याख्यान किया। उसने बतलाया कि वस्तु-स्वरूप की धारणा, वस्तु को उसके आवेष्टन, गुणो और अवस्थाओ से अलग करके देखना है और इसी लिए वह ज्ञान से परे है।

कांट के जगत् की तरह हेगेल के जगत् का स्रष्टा भी मन ही है। लेकिन काट के असली जगत् और दृश्यमान जगत् के द्वित्व का हेगेल ने अत कर दिया। इस अर्थ मे हेगेल और स्पिनोजा के बीच समानता है। स्पिनोजा की आत्मा तथा मन और भूत अभिन्न हैं। एक दूसरे का रूप है। हेगेल के लिए भी 'पूर्ण' सब कुछ है। दृश्यमान जगत् उसी 'पूर्ण' का अग और साथ ही रूप भी है।

इस 'पूर्ण' की व्याख्या क्या है ? किसी वस्तु की प्रकृति पर विचार करने से हम क्या देखते है ? यह कि इसको पूरी तरह समझने के लिए दूसरी वस्तुओ से तुलना करने की आवश्यकता है। यह स्वय पूर्ण नही है और

इसलिए यह समझा नही जा सकता। उदाहरण के लिए एक मुर्गी का अण्डा गेंद से कम गोल है, चमडे से अधिक टूटनेवाला है, गौरैया के अण्डे से वडा है, शुतुरमुर्ग के अण्डे से छोटा है, इत्यादि। यदि मुर्गी के अण्डे के विषय मे ये सत्य घटनाएँ न होती तो यह जो कुछ है उससे कुछ भिन्न ही होता। इसलिए हम कहते है कि तमाम घटनाओ को मिलाकर ही वस्तुविशेष बनी है। उपर्य्युक्त उदाहरण मे प्रत्येक घटना दूसरी वस्तुओं से इस अण्डे के सम्बन्ध का द्योतक है। इसलिए दूसरी वस्तुओ से इसके सम्वन्ध इसकी प्रकृति को वनाते है। लेकिन इस अण्डे का सम्बन्ध दुनिया की हर चीज़ से है—यह सम्बन्ध चाहे समता का हो चाहे विषमता का। इसलिए अण्डे को पूर्णरूप से जानने के पहले हर विद्यमान वस्तु की गणना करनी पडेगी, क्योकि अण्डा (जो कुछ भी वह है) मे हर वस्तु का अस्तित्व सम्भावित है। इसलिए वास्तविकता एक सम्पूर्ण इकाई (**unit**) है जिसके विभिन्न अश आपस मे सम्वन्धित है और जो अश मिल कर इस इकाई की सृष्टि करते है। अव यह स्पष्ट होगा कि विभिन्न वस्तुओ के भेद असत्य है, क्योकि ये सव वस्तुयें अलग अलग नही है वल्कि उस महान् एक के ही अग-विशेष है।

वस्तुओ के लिए जो सत्य है वही विचारो के लिए भी। किसी सत्य के अस्तित्व के प्रकाश के साथ ही साथ उसके विपरीत असत्य के अस्तित्व का प्रकाश होता है। 'वर्फ सफेद है', इस प्रकार की घटना के विवरण के लिए ही यह सत्य नही वल्कि सिद्धान्तो के विचार के लिए भी यह सत्य है। जैसे स्वतन्त्र इच्छा के सिद्धान्त के साथ इसके विरोधी सिद्धान्त का अस्तित्व है। वह सिद्धान्त यह है कि अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की स्वतन्त्रता हमको नही है। हमारा हर कार्य पूर्व-निर्धारित है; घटनावश उस कार्य को करने के लिए हम वाध्य है। इसको पूर्वनिर्धारण का सिद्धांत कहा जा सकता है। जिन घटनाओ से उनका सम्वन्ध है, उनके विषय मे हर सिद्धान्त सही है। एक विपरीत सिद्धान्त के अस्तित्व का अर्थ ही है कि कोई भी सिद्धान्त स्वतन्त्र रूप से सम्पूर्ण सत्य नहीं है।

इसलिए हेगेल ने कहा, कि कोई ऐसा उपाय अवश्य होगा जिससे एक सत्य और उसके विपरीत सत्य को मिलाकर एक व्यापक सत्य की प्रतिष्ठा हो, जिसमे ये दोनो आशिक सत्य सम्मिलित हो। इन आशिक सत्यो के अधूरेपन में मन टिक नही सकता, क्योकि इनका विरोध होता रहता है। इसलिए वह व्यापक सत्य की खोज मे आगे बढता रहता है। इस व्यापक सत्य का भी विरोध अनिवार्य है, इसलिए इससे भी अधिक व्यापक सत्य पर मन उपनीत होता है। जब तक कि हम उस अतिम सत्य पर उपनीत नही होते जिसके अन्दर सब आशिक सत्य और उनके विरोध लय प्राप्त होते है तब तक इन आंशिक और उनके विपरीत सत्यो को मिलाकर एक व्यापक सत्य मे परिणत करने की क्रिया जारी रहती है। यह अन्तिम सत्य 'कुल' के विषय मे सम्पूर्ण सत्य है, और यह सत्य 'कुल' के साथ सम्बन्धित है, जिसके विषय में ही यह सत्य है। इसलिए इसका कोई विपरीत सत्य नही हो सकता। यह अन्तिम सत्य सब कुछ के साथ एकागी है और सब मिलकर एक 'इकाई' है।

यह सत्य मानसिक है, यह विचारो की एक विशेषता है और मन के अस्तित्व को मान लेता है। वह सम्पूर्ण भी जिसके साथ यह सत्य एक है, मानसिक है। इस प्रकार हम 'पूर्ण' पर उपनीत होते हैं और हेगेल के लिए वास्तविकता यही है। यह वास्तविकता एक सम्मिलित सम्पूर्णता है जिसके अन्दर सारी विविध वस्तुएँ मय मन और मन द्वारा ज्ञात विषय तथा उनकी विभिन्नताएँ मौजूद है। हमारा मन इस पूर्ण का अशमात्र होने के कारण, विश्व-ससार का एक आशिक, और इसलिए आशिकरूप से गलत अन्दाज़ लगाता है। वह इसको अलग अलग वस्तुओ के पुज के रूप में देखता है। केवल 'पूर्ण', दर्शनशास्त्र जिसका एक अस्पष्ट आभास हमको देता है, की दृष्टि मे ही विश्व-ससार एक अविभाजित इकाई है। इस सिद्धान्त से सत्य की प्रकृति ही बदल जाती है।

सत्य की साधारण परिभाषा नीचे दी जाती है जिससे यह मालूम हो जायगा कि इसमे और हेगेल की परिभाषा में क्या अतर है। हम

साधारण तौर पर कहते है कि सचाई विचार या राय का एक गुण है; जैसे कि कोई घटना या राय सत्य है। उदाहरण के लिए, यदि रेलगाडी इलाहाबाद से लखनऊ को दस बजे छूटे तो गाडी का इस समय छूटना एक सत्य घटना है। यदि मै यह कहूँ कि ऐसा होता है तो लोग कहेगे कि मेरा कथन या मेरी राय सही है, क्योकि मेरी राय से अलग एक घटना है जो सत्य है और जिससे मेरी राय मिलती है। इस तरह सचाई किसी विचार या राय (जो सत्य है) और घटना का मेल है। सचाई राय का एक गुण है। कोई राय सच है या नही यह निर्भर है एक बाहरी चीज अर्थात् घटना के ऊपर। इस दृष्टिकोण को मान्य होने के लिए हमारे दर्शनशास्त्र मे अलग अलग घटनाओ के अस्तित्व की सम्भावना होनी चाहिए। दूसरे शब्दो मे एक स्वतन्त्र घटना का अस्तित्व होना चाहिए, जो स्वय सम्पूर्ण हो और जिसकी धारणा दूसरी घटनाओ से सम्बन्ध-रहित अवस्था मे की जा सकती है। लेकिन इसी बात को हेगेल का दर्शन अस्वीकार करता है। हेगेल के अनुसार विश्व मे एक ही सत्य घटना है—वह है 'पूर्ण'। जो कुछ इससे कम है वह सत्य घटना नही है। यह दूसरी घटनाओ से सम्बन्धित है, जिनसे विच्छिन्न करके इसको नही समझा जा सकता और इसलिए इसके अनुरूप कोई एक विचार नही है। सारी घटनाओ के गोरख-धन्धे का अनुरूप एकमात्र विचार है और वह है सम्पूर्ण के विषय मे सार्वभौमिक धारणा। और चूँकि विचार और विचार के विषय का भेद मिथ्या है, इसलिए 'पूर्ण' और 'सार्वभौमिक धारणा' समवाचक है। 'अनुरूप' शब्द से दो की सज्ञा होती है। लेकिन हेगेल के विचारानुसार यह द्वित्व बोध मिट जाता है; तब 'तदनुरूपता' के लिए कोई जगह नही रहती और बिना इसके 'सत्य' का भी कोई अर्थ नही होता।

दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे हेगेल का सबसे बडा दान है "स्वयगति विवर्तनवाद" (Dialectics) का विचार। प्रज्ञावादी, अरस्तू के न्याय के माननेवाले थे जिनके लिए कोई नई चीज नही हो सकती थी, क्योकि ये किसी एक आनुमानिक प्राथमिक वस्तु से सारे विश्व का सूत्र

जोड लेते थे। लेकिन यह तो सार्वजनिक अनुभव की बात ह कि नये का आविर्भाव ससार में होता रहता है।

हेगेल ने इस कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए एक नये न्याय का आविष्कार किया। अरस्तू और साधारण न्याय यह कहता है कि हर एक चीज और उसका अनुरूप विचार एक ही वस्तु है, दो नही। हेगेल ने यह कहा कि प्रत्येक वस्तु मे एक अन्तर्विरोध ह जो इसको गतिदान करता ह और इस स्वय विकास की क्रिया में वह दूसरी वस्तु में परिवर्तित हो जाती है।

हेगेल की वास्तविकता वस्तु नही, विचार है। दुनिया का क्रम-विवर्तन उसके लिए विचार का क्रम-विवर्तन है। प्रथम विचार का नाम हेगेल ने दिया 'वाद' (Thesis)। इसके साथ ही इसका विपरीत विचार भी वर्तमान होता है जिसका उसने नाम दिया 'प्रतिवाद' (Antithesis) और इन दोनो के सघर्ष से जो नया विचार उत्पन्न होता है उसका नाम दिया 'समन्वितवाद' (Synthesis)। इस सतुलन की अवस्था में पुनः अन्तर्विरोध की सृष्टि होती है और एक नये विचार-सघर्ष के परिणाम-स्वरूप गति उत्पन्न हो जाती है जो एक नये और वृहत्तर 'समन्वितवाद' में लय को प्राप्त होती है। विश्वलीला इसी विचार-सघर्ष की क्रिया है और यह अन्त में लय होती है 'पूर्ण' में।

द्वितीय अध्याय

हेगेल से मार्क्स

अठारहवीं शताब्दी का भौतिकवाद

मार्क्स का दर्शन हेगेल के द्वन्द्वमान और अठारहवी शताब्दी के भौतिक-वाद का समन्वय है। मार्क्स ने हेगेल की प्रथा को पूरा पूरा अपनाया। लेकिन दोनो के दृष्टिकोण में बहुत भेद है। यह प्रभेद मुख्यतया आदर्शवाद और भौतिकवाद का प्रभेद है। इस प्रभेद की बुनियादी बात है इस प्रश्न का उत्तर कि मानस पहले है या पदार्थ? हेगेल ने मन को ही प्रधान माना जिसका उसने नाम दिया निर्विकल्प (Absolute), इसी निर्विकल्प (Absolute) के स्वय विकास का नाम है सृष्टि। इस सृष्टि प्रक्रिया का पहला अक है एक अविभाजित इकाई। यह इकाई दो विरोधी अशो में विभाजित हो जाती है। पुन इन विरोधो का समन्वय होकर एक नई समन्वित इकाई की सृष्टि होती है। इसी प्रकार सृष्टि का विकास होता रहता है। मार्क्स ने इस प्रक्रिया के स्वरूप को स्वीकार किया। लेकिन उसका कहना यह था कि यह क्रिया मन की नही बल्कि भूत की है। भूत की यह क्रिया मानस मे प्रतिबिम्बित होकर यह मानसिक प्रक्रिया का रूप धारण कर लेती है।

अब यह देखना चाहिए कि मार्क्सीय दर्शन पर अठारहवी शताब्दी के भौतिकवाद का क्या प्रभाव पडा।

हॅलबाश—अठारहवी शताब्दी के भौतिकवाद के प्रतीक है हॅलबाश और हेलवेशियश। हॅलबाश की प्रसिद्ध पुस्तक है 'प्रकृति-विन्यास' (Systeme de la nature)। दो तीन उक्तियो से ही उसका मतवाद स्पष्ट हो जायगा। यदि सत्ता का अर्थ है सच्चा स्वरूप, तो हमे किसी

वस्तु की सत्ता का कोई ज्ञान नही। प्रत्यक्षावलोकन से तथा तद्जनित स्पन्दन और विचारो से हमें भूत का ज्ञान प्राप्त है। और अपनी इन्द्रियो के निर्देशानुसार हम इस विषय में अच्छी या बुरी राय कायम करते है।

"यद्यपि हमारे ऊपर उसकी प्रतिक्रिया के अनुसार उसके कुछ गुणो का परिचय हमको मिल जाता है लेकिन हमको भूत की सत्ता या सच्चे स्वरूप का कोई ज्ञान नही ।"

भूत और मन का क्या सम्वन्ध है ? विचार-शक्ति की उत्पत्ति कैसे होती है ? हॅलवाश का उत्तर वहुत सीधा है "चूंकि मनुष्य भूतो का वना है और भूतो के अतिरिक्त उसका और कोई विचार नही है, क्या इस सिद्धान्त पर पहुँचना अधिक समीचीन न होगा कि यह भूत ही विचार-शक्ति-सम्पन्न है, अथवा भूत मे वह विशेष परिवर्तन हो सकता है जिसको मननशक्ति कहते हैं ?"

मार्क्सीय दर्शन कोरा सिद्धान्त-मात्र नही है। यह विश्व को निरीक्षण करने का एक दृष्टिकोण है, यह जीवन-पथ का एक निर्देश है। इतिहास, दर्शन, नीति, विज्ञान सभी से यह सम्वन्वित है। अठारहवी शताब्दी का भौतिकवाद भी केवल इस प्रश्न के उत्तर पर अवलम्बित नही कि पदार्थ पहले है या मानस, यद्यपि यह उसकी मुख्य वुनियाद है।

अठारहवी शताब्दी का वैज्ञानिक ज्ञान वहुत सीमित था और आज के दिन वह वहुत अधूरा मालूम पडता है। अधिकाशत यह अनुमान के अतिरिक्त कुछ नही था। जैसे पृथ्वी के निर्माण के विषय में हलवाश का कथन है —"सम्भव है कि यह पृथ्वी एक भूत पिण्ड है जो किसी समय किसी नक्षत्र-विशेष से विच्छिन्न हो गया है, अथवा यह पृथ्वी सूर्य-स्थित काले विन्दुओ के विस्तार का ही परिणाम है, सम्भव है, यह एक वुझी हुई धूमकेतु (Comet) है जो पहले किसी अन्य स्थान पर अवस्थित था।" मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में हलवाश का कथन है कि वह प्रकृति की आकस्मिक उपज है। अठारहवी शताब्दी का दर्शन, राजा,

पुरोहित, तथा सामन्त-वर्ग के विरुद्ध क्रान्तिकारी पूँजीवादियों के संघर्ष को विचारो के क्षेत्र में प्रतिच्छाया है। इस दर्शन ने धर्म के विरुद्ध जिहाद की। मानव नीति के लिए इससे कोई भयकर बात नही हो सकती कि उसका धार्मिक नीति से सम्बन्ध हो। बुद्धि और अनुभव पर प्रतिष्ठित नीति को धर्म से जोडना जो रहस्यपूर्ण तथा बुद्धि-विरोधी है और जिसका आधार है आदेश, नैतिक शिक्षा को कमजोर बनाना और इसमे गडबडी पैदा करना है।"

"प्रकृति-विन्यास" का प्रणेता कहता है.—"वासना ही वासना की औषधि है। इसलिए वासनाओ को दमन करने की आवश्यकता नही, केवल उनके लिए रास्ता बनाने की आवश्यकता है। अनुभव से उत्पन्न बुद्धि इसी का नाम है कि हम किस प्रकार की वासनाओ को चुने जिससे हमारी भलाई हो सके।"

अच्छे बुरे के विषय मे उसका कहना है कि मनुष्यमात्र सुख चाहता है और दुख से घबडाता है। जिससे सुख मिलता है उसको वे अच्छा कहते है—जिससे दुख पहुँचता है उसको बुरा। जिससे उनको स्थायी लाभ पहुँचता है उसको वे गुण कहते है और पडोसियो के जिस व्यवहार से उनको हानि पहुँचती है उसको वे दोष कहते है, इसलिए गुण-दोष मे प्रभेद करने के लिए देवताओ की सहायता की कोई आवश्यकता नही। गुण का सुखदायक होना ज़रूरी है। यदि दोष से किसी मनुष्य को सुख मिलता हो तो वह दोष को अवश्य पसन्द करेगा ही। मनुष्य बुरा तभी होता है जब बुरे होने मे ही उसका स्वार्थ हो। दुनिया मे इतने बुरे और दुष्ट लोग इसलिए मिलते है कि कोई सरकार ऐसा कुछ करने का कष्ट नही उठाती जिससे उसकी प्रजा को न्याय, भलाई और ईमानदारी मे ही सुविधा मालूम हो। इसके विपरीत प्रबल स्वार्थ लोगो को प्रेरित करता है कि वे दोषी, अन्यायी और अपराधी बने। प्रकृति ने मनुष्य को बुरा नही बनाया, सामाजिक व्यवस्था ही इसके लिए ज़िम्मेदार है। इस प्रसग मे यह समझ लेना चाहिए कि हॅलबाश जब यह कहता है कि दोष से सुख

मिलने पर मनुष्य दोषी बनेगा ही तो उसका आशय यही है कि समाज-व्यवस्था ही मनुष्य को दोषी बनाती है।

धार्मिक नीति पर विश्वास करनेवाले इन भौतिकवादियो पर क्रोध करते है कि उनकी नीति से व्यक्तिगत स्वार्थ का महत्त्व बढ जाता है। वोलटेयर ने गर्जन किया "समाज, न्याय और अन्याय की धारणा के बिना नही रह सकता। ईश्वर ने इस आदर्श पर पहुँचने का मार्ग हमको बतलाया है। इसलिए पेकिंग से आइसलैंड तक हर समाज के मनुष्यमात्र का हित ही ुण का अपरिवर्तनीय नियम है। धार्मिक नीति के विरुद्ध सग्राम करते हुए हॅलबाश ने यह दिखलाने की चेष्टा की कि गुण को समझने के लिए ईश्वर की सहायता की कोई आवश्यकता नही।

हॅलबाश ने समझाया कि यह समझने के लिए कि समाज की रक्षा के लिए न्याय आवश्यक है और अन्याय से केवल शत्रुओ की सृष्टि होती है, किसी ईश्वर-वाक्य की आवश्यकता नही। यह समझने के लिए कि सामाजिक जीवो को आपस मे प्रेम और एक दूसरे को सहायता करने की आवश्यकता है, ईश्वर की आवश्यकता नही है। निसन्देह हर एक मनुष्य, जो अपनी रक्षा चाहता है, जानता है कि असयम और अति, जीवन के लिए खतरनाक है। हर समझदार व्यक्ति को यह अनुभव है कि जुर्म उसके अपने ही साथियो की दृष्टि मे घृणा का विषय है, पाप पापियो के लिए भी हानिकर है।

यदि विधि-निषेध के निर्देश के लिए विचार ही काफी है तो उससे दर्शन का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। दर्शन का काम यह सिद्ध करना हो जाता है कि अपने स्वार्थो को सही तौर पर समझना ही गुण है। दर्शन-शास्त्र को यह दिखलाना पडेगा कि इतिहास-प्रसिद्ध नर-पुंगव के काम उसी प्रकार होते यदि उनमे से हर एक के दिल में उनके अपने सुख ही की बात होती। इसके विरुद्ध रूशो ने प्रश्न उठाया कि कोई अपने ही सुख के लिए मौत का सामना क्यो करेगा? रूशो ने उस दर्शन को घृणित बताया जो ऐसे गुणो के मूल में नीच स्वार्थ को देखता है। एक अर्थ में

स्वार्थ नीति के मूल मे है और अधिकतर क्षेत्र मे मनुष्य निजी स्वार्थ से ही प्रेरित होता है, लेकिन यह सर्वथा सत्य नहीं है। जब किसी पुण्य कार्य का प्रश्न होता है तब यह प्रेरणा समग्र के स्वार्थ यानी सामाजिक स्वार्थ से मिलती है। व्यक्ति की वीरता और बलिदान के मूल मे श्रेणी और समाज का स्वार्थ निहित है।

अठारहवी सदी के भौतिकवादियो का मूल-मन्त्र यह था कि मनुष्य का अविकृत स्वभाव एक स्थिर सज्ञा है और इसलिए उन्होने यह निर्णय किया कि मनुष्य-समाज में दुख की उत्पत्ति भूल से है। यदि मनुष्य अपने स्वभाव पर कायम रहे तो वह सदा सुखी रहेगा।

उन्होने इस विचार पर भी ज़ोर दिया कि सामाजिक परिवेष्टन ही से मनुष्य की राय बनती है, यद्यपि उन्होने इसके उल्टे विचार का भी समर्थन किया कि विशिष्ट राय के कारण भी परिवेष्टन की रूप-रेखा मे परिवर्तन होता है।

इसके अलावा उनकी सबसे बडी देन है कार्य-कारण के सम्बन्ध के निकटतम सत्य का आविष्कार, यद्यपि इससे ऐतिहासिक प्रगति को समझने मे कोई विशेष सहायता नही मिलती।

फ्रांसीसी भौतिकवाद और मार्क्स—अठारहवी शताब्दी के भौतिकवादी दर्शन के जिस अश को मार्क्स ने ग्रहण किया वह यह है कि भूत ही प्राथमिक है और विचार भूत के एक विशिष्ट प्रकार के सगठन की उपज है। धर्म-जाल को छिन्न कर और अति-प्राकृतिक आधार को अलग कर प्रकृति के नियमो का अध्ययन उचित है। और व्यक्ति से सामाजिक नियमो का अनुसरण न कर, समाज से व्यक्ति का परिचय देना वैज्ञानिक है। मार्क्स पर इस भौतिकवाद का प्रभाव केवल इस अर्थ में ही नही है कि इसके एक अश को मार्क्स ने ग्रहण किया बल्कि यह कि इसका विरोध भी मार्क्सीय दर्शन का एक मुख्य आधार है। मार्क्स की पुस्तक "होली फैमिली" के एक उद्धरण से यह और भी स्पष्ट हो जाएगा।

पुनर्जागरण—कवित्वहीन और स्पष्ट भाषा में अठारहवी शताब्दी की फ्रासीसी 'रोशनी' (प्रगति) और विशेषकर फ्रासीसी भौतिकवाद का सघर्ष न केवल उस काल के व्यवस्थित राजनैतिक तथा धार्मिक सगठनो से था वल्कि सत्रहवी शताब्दी के अति-भौतिकवाद और विशेषरूप से उसके प्रतीक देकार्ते, स्पिनोज़ा और लाइवनिट्स इत्यादि के विरुद्ध एक जिहाद था। अति-भौतिकवाद के विरुद्ध दर्शन शास्त्र को खडा किया गया, ठीक जिस प्रकार से फॉयेरवाख ने मदिरावेश कल्पना के विरुद्ध स्थितप्रज्ञ दर्शन को खडा किया।

फ्रासीसी भौतिकवाद की दो धाराये है जिनमे से एक का उद्गम-स्थल है देकार्ते और दूसरी का लॅक। शेषोक्त फ्रासीसी कृष्टि का एक उत्तम अग है और सीधा समाजवाद के प्रवाह मे जा मिलता है। पूर्वोक्त, यानी यान्त्रिक भौतिकवाद फ्रासीसी प्रकृति-विज्ञान में सम्मिलित हो जाता है। विकास की क्रिया में दोनो धाराओ का सस्पर्श होता रहता है।

यहाँ यह कहना जरूरी है कि देकार्ते ने अपने भूत-विज्ञान मे भूत को सृष्टि-शक्ति-सम्पन्न वनाया और यान्त्रिक गति की, इसके मुख्य कार्य के रूप में कल्पना की। उन्होने भौतिक-विज्ञान को अतिभौतिकवाद से पूर्णरूपेण स्वतन्त्र कर लिया था। उस विज्ञान में भूत ही सब कुछ है और वही ज्ञान और अस्तित्व का एकमात्र आधार है।

फ्रासीसी यान्त्रिक भौतिकवाद ने देकार्ते के अति-भौतिकवाद से नाता न जोडकर उसके भूत-विज्ञान से सम्बन्ध जोडा। देकार्ते के विज्ञानवाद के पहले प्रचारक थे वैज्ञानिक लेरॅय और यह अपने शिखर पर पहुँचता है कावानी मे। दोनो के वीच का आसन है वैज्ञानिक लामेत्री का। देकार्ते के जीवन-काल मे ही, लेरॅय ने मनुष्य की आत्मा के लिए भी वही वात लागू की जिसकी कल्पना देकार्ते ने जानवरो के लिए की थी। उन्होने मनुष्य की आत्मा को उसके शरीर की ही एक विशिष्ट अवस्था वतलाया और यह वतलाया कि विचार यान्त्रिक गति के अलावा और कुछ नही है। लेरॅय का यहाँ तक विश्वास था कि देकार्ते ने अपनी असली राय

छिपा रक्खी थी। देकार्ते ने इसका विरोध किया। देकार्तीय भौतिकवाद को कावानी ने सम्पूर्ण किया अपनी पुस्तक "मनुष्य की नीति और उसकी शरीर-रचना पर रिपोर्ट" मे।

देकार्तीय भौतिकवाद आज तक फ्रास मे वर्तमान है और यान्त्रिक प्रकृति विज्ञान के क्षेत्र मे इसको बहुत सफलता भी मिली, जिसके विषय मे कम से कम यह कहा जा सकता है कि यह काल्पनिक जगत् मे विचरण नही करता।

देकार्तीय अतिभौतिकवाद को जन्म से ही भौतिकवाद मे अपना शत्रु मिला। इस विरोध का प्रतीक था गैसेडी जिसने एपिकुरस के भौतिकवाद को पुनर्जीवित किया। फ्रासीसी और अँगरेज़ी भौतिकवाद बराबर डिमोक्रिटस् और एपिकुरस से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित था। देकार्तीय अतिभौतिकवाद का दूसरा विरोधी था भौतिकवादी अँगरेज़ हव्स।

वोलटेयर ने यह कहा है कि जेसुइट और जैनसेनिस्ट दोनो धर्म-सम्प्रदायो के झगडो के प्रति उदासीनता का कारण दर्शन नही था बल्कि 'ला' (व्यक्ति-विशेष) का आर्थिक सट्टा। इसी प्रकार सत्रहवी सदी के अतिभौतिकवाद की अन्त्येष्टि क्रिया का कारण अठारहवी सदी के भौतिकवाद को कहा जा सकता है, लेकिन जब इसको स्वय ही उस काल के फ्रासीसी जीवन के व्यावहारिक रूप का परिणामस्वरूप समझा जाए। यह जीवन पूर्णरूप से वर्तमान से बँधा हुआ था, पार्थिव सुख और स्वार्थ से बँधा हुआ था, इस नश्वर पृथ्वी का ही था। धर्म-विरोधी, अतिभौतिकता-विरोधी भौतिकवादी तथ्य व्यवहार मे धर्म-विरोध और अतिभौतिकता-विरोध के अनुरूप ही थे। व्यवहार मे अतिभौतिकवाद की सत्ता विनष्ट हो चुकी थी। यहाँ केवल इसके सिद्धान्त का गतिनिर्देश सक्षेप में किया जा रहा है।

सत्रहवीं सदी मे भी अतिभौतिकवाद नकारात्मक अपवित्र चीजो से भरा पडा था (लाइबनिट्स, देकार्ते इत्यादि को देखिए)। गणित भूत-विज्ञान तथा और वैज्ञानिक क्षेत्र के आविष्कार इसी के अग रूप जान

पड़ते थे। लेकिन अठारहवी सदी के आरम्भ में ही यह भाव नष्ट हो चुका था। विज्ञान और अतिभौतिकवाद का विच्छेद हो चुका था और हरएक अपने स्वतन्त्र क्षेत्र मे विराजमान था। अतिभौतिकवाद की सारी सम्पदा अब रह गई विचार-समूह और स्वर्गीय चीजें और यह ठीक उसी समय जब पार्थिव चीजें सारे ससार को आकर्षित कर रही थी। अतिभौतिकवाद नीरस हो चुका था। जिस साल फ्रास के सत्रहवी सदी के अन्तिम महान् अतिभौतिकवादी मालेब्राश और आर्नोल की मृत्यु हुई उसी साल हेलवेशियस और कॅनडिलाक ने जन्म ग्रहण किया।

पीयरबेल--सत्रहवी सदी के अतिभौतिकवादी तथ्य का तथा सब प्रकार की अतिभौतिकता का मूल नष्ट करनेवाला था पीयरबेल। उसका अस्त्र था शकावाद और अतिभौतिकवाद के जादू मन्त्र से ही इसका निर्माण हुआ था। फ्येरबाख़ ने यह समझ लिया था कि धर्म-मत का आखिरी सहारा है काल्पनिकवाद, इसलिए धर्म-मत का विरोध करने के लिए उनको कल्पना-प्रधान दर्शनशास्त्र का विरोध करना पड़ा। क्योकि वह धर्म-पुरोहितो को अर्थविज्ञान के द्वारा रूढ़िवाद और अन्धविश्वास पर ढकेलना चाहते थे। ठीक उसी प्रकार धार्मिक सन्देह से प्रेरित होकर बेल ने उस अतिभौतिकता को भी, जो इस धर्ममत के मूल में थी, सन्देह की दृष्टि से निरीक्षण किया। अतिभौतिकवाद और उसके समग्र ऐतिहासिक विकास का बेल ने खण्डन किया। अतिभौतिकवाद की मृत्यु का इतिहास लिखने के लिए ही वह उसका ऐतिहासिक बना। विशेषकर लाइबनिट्स और स्पिनोज़ा का उसने खण्डन किया।

शकावाद-कृत अतिभौतिकवाद के निराकरण-द्वारा न केवल बेल ने फ्रास में साधारण-ज्ञान-दर्शन और भौतिकवाद के ग्रहण के लिए भूमि तैयार की बल्कि वह उस निरीश्वरवादी समाज का अग्रदूत बन गया जिसका जन्म शीघ्र ही होने को था, समकालीन समाज में ही निरीश्वर-वादी समाज का अस्तित्व है, यह उसने प्रमाणित किया। उसने यह दिखलाया कि एक निरीश्वरवादी ईमानदार आदमी बन सकता है।

सबसे वडी बात उसने यह प्रदर्शित की कि मनुष्य का पतन निरीश्वरवाद के कारण नही बल्कि मूर्तिपूजा और रूढ़िवाद के द्वारा होता है।

एक फ्रांसीसी लेखक के शब्दो मे 'पीयरवेल सत्रहवी सदी के अर्थ मे अन्तिम अतिभौतिकवादी था और अठारहवी सदी के अर्थ में पहला दार्शनिक था।'

लेकिन सत्रहवी सदी के अतिभौतिकवाद और धर्ममत के नकारात्मक खण्डन के अलावा ज़रूरत थी एक अतिभौतिकवाद-विरोधी सृजनात्मक तथ्य की। एक पुस्तक की आवश्यकता थी जो उस काल की व्यावहारिक कार्यवाही को विधिबद्ध कर उसको एक तथ्य की बुनियाद पर खडी करती। इँगलिश चैनेल के उस पार से "मानव ज्ञान के मूल के विषय मे एक निबध" नामक लॅक की एक पुस्तक इस प्रकार आ गई मानो कि वह पुकार की प्रतीक्षा कर रही थी। अतिथि की भाँति इसका स्वागत हुआ। लॅक ने साधारण ज्ञान के दर्शन को एक भित्ति पर कायम किया, दूसरे शब्दो में उन्होने चीज़ को इस प्रकार रक्खा कि मनुष्य की इन्द्रियो के परे कोई दर्शन नही है।

कॅनडिलाक—कॅनडिलाक ने जो लॅक का शिष्य था और जिसने उसकी विचारधारा को फ्रास की जनता के सामने रक्खा, लॅक के इन्द्रिया-नुभूतिवाद का सत्रहवी सदी के अतिभौतिकवाद के विरुद्ध प्रयोग किया। उसने यह प्रमाणित किया कि फ्रासीसियो द्वारा अतिभौतिकवाद का तिरस्कार उचित ही है क्योकि यह केवल धार्मिक पाखण्ड तथा कल्पना की प्रसूति है। उसने एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें देकार्ते, स्पिनोज़ा, लाइब-निट्स और म्रालेब्राश की दार्शनिक प्रथाओ का खण्डन किया। 'मानव-ज्ञान के मूल के विषय मे एक निबन्ध' नामक अपनी पुस्तक मे उसने लॅक के विचारो का समर्थन किया और यह प्रमाणित किया कि न केवल आत्मा बल्कि इन्द्रियाँ भी, न केवल विचारो को उत्पन्न करने का कौशल बल्कि इन्द्रियानुभूति की कला भी अनुभव और अभ्यास के विषय है। इसलिए मनुष्य का सारा विकास इस पर निर्भर है कि उसके लिए बाहरी अवस्था

तथा आवेष्टन किस प्रकार के है और उसका पालन-पोषण किस प्रकार होता है।

फ्रासीसी और अँगरेज़ी भौतिकवाद का प्रभेद दोनो कौमो के बीच का प्रभेद हैं। फ्रासीसियो ने अँगरेज़ी भौतिकवाद को स्फूर्ति दी, उसको रक्त-मासमय बनाया, उसमे प्रतिभा का पुट दिया। सक्षेप में उसको सौन्दर्य-मण्डित किया, उसको सभ्य बनाया।

हेलवेशियस भी लॅक ही से आरम्भ करता है। उसमे भौतिकवाद को फ्रासीसी विशिष्टता प्राप्त होती है। उसने इसको समाज से सम्बन्धित रूप में ही देखा। इन्द्रियभूत गुण और अहसत्ता, सुख और अनिन्दित स्वार्थरक्षा, ये सव नीति की बुनियाद है। मनुष्य की बुद्धि में प्रकृतिगत समानता, विचार शक्ति तथा उद्योग की उन्नति में एका, मनुष्य का स्वाभाविक रूप से अच्छा होना और पालन-पोषण की प्रक्रिया की महान् शक्ति, ये ही उसकी दार्शनिक प्रथा की मुख्य वातें है।

लामेत्री के लेखो मे देकार्तीय और अँगरेज़ी भौतिकवाद का सयोग होता है। पुखानुपुख रूप में देकार्ते के भूत-विज्ञान का उन्होने प्रयोग किया है। उसकी पुस्तक मनुष्य-मशीन देकार्ते के पशु-मशीन के नमूने पर लिखी गई है। हलवाश के 'प्रकृति-विन्यास' के भूतविज्ञान का अश भी अँगरेज़ी और फ्रासीसी भौतिकवाद का सम्मेलन है जैसे उसका नीति-विषयक अश हेलवेशियस के नीति-विचारो पर अवस्थित है।

यहाँ पर हमने फ्रासीसी भौतिकवाद के दोनो उत्पत्ति-स्थलो को दिखलाया है, यथा देकार्ते का भूत-विज्ञान तथा अँगरेज़ी भौतिकवाद। साथ ही साथ हमने यह भी दिखलाया है कि फ्रासीसी भौतिकवाद और सत्रहवी सदी के अतिभौतिक का विरोध किस प्रकार है।

जैसे देकार्तीय भौतिकवाद प्रकृति-विज्ञान मे परिणत होता है, उसी प्रकार फ्रासीसी भौतिकवाद की एक धारा समाजवाद और साम्यवाद में जा मिलती है।

मनुष्य का स्वभावत. अच्छा होना; मनुष्यो की बुद्धि मे समानता; अनुभव, अभ्यास और पालन-पोषण के तरीके का सर्वशक्ति-सम्पन्न होना; वाहरी अवस्थाओ का मनुष्य पर प्रभाव, उद्योग का महत्त्व और सुख भोग का औचित्य इत्यादि भौतिकवादी सिद्धान्तो से भौतिकवाद और समाजवाद तथा साम्यवाद के आन्तरिक सम्वन्ध को समझना कोई कठिन बात नही है। यदि मनुष्य अपने सारे ज्ञान और प्रत्यक्षानुभूति को इन्द्रिय-जगत् और उसके अनुभव से निर्माण करता है तो प्रश्न यह रह जाता है कि इस वास्तविक जगत् का वन्दोवस्त किस प्रकार किया जाए कि उसमे वह सच्ची मानवता का अनुभव कर सके और अपने को वह मनुष्य रूप मे पा सके।

यदि सस्कृत स्वार्थ-रक्षा सब नीति का मूल सिद्धान्त है तो उससे यह बात निकलती है कि व्यक्ति के निजी स्वार्थ और मानवता के स्वार्थ के वीच एका स्थापित होना चाहिए। यदि वाहरी अवस्थाओ से मनुष्य वना है तो वाहरी अवस्थाओ को मनुष्योपयोगी वनना चाहिए। यदि सामाजिकता मनुष्य की प्रकृति मे है तो समाज मे ही प्रकृत रूप से उसका विकास हो सकता है। इसलिए उसकी प्रकृति की शक्ति का मानदण्ड एक व्यक्ति की शक्ति नही है, वह समाज की शक्ति है।

शब्दश ये विचार प्राचीनतम फ्रासीसी भौतिकवादियो की उक्तियो मे मिलते है। यहाँ उन पर राय जाहिर करने का उचित स्थान नही है। भौतिकवाद मे समाजवादी पुट का सवसे वडा चिह्न है, लॅक के एक सवसे पुराने अँगरेज शिष्य मेंडेविल द्वारा पाप की पेशकारी। उसने प्रमाणित किया कि आज के समाज मे पाप अपरिहार्य है और आवश्यकीय भी है, इस उक्ति मे वर्तमान समाज की प्रशसा नही होती।

तृतीय अध्याय

हेगेल से मार्क्स

फॉयेरबाख—मार्क्स दार्शनिक विचारो मे हेगेल के शिष्य थे, लेकिन मार्क्स के ही शब्दो में, "हेगेल सर के बल खडा था, मै उसको पैर के बल खडा करा रहा हूँ।" हेगेल के आदर्शवाद और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बीच का सेतु है फॉयेरबाख। फॉयेरबाख ने आदर्शवादी दर्शन को बहुत बडा धक्का पहुँचाया। अठारहवी सदी के भौतिकवाद के अलावा फॉयेरबाख के दर्शन का भी मार्क्स पर बहुत बडा प्रभाव पडा। यह प्रभाव दो प्रकार का है, आशिक रूप से तो मार्क्स ने फॉयेरबाख को ग्रहण किया, लेकिन इसके विरोध के आधार पर भी मार्क्सीय दर्शन के स्वतत्र रूप की पुष्टि हुई। फॉयेरबाख की मुख्य किताबे है "Esscuce of Chrissianity "(ईसाई धर्म का सार) और दर्शन का इतिहास। इसके अतिरिक्त उनके बहुत से लेख उस समय के पत्रो मे छपे जिनमे समकालीन दार्शनिको के मतो का उन्होने खडन किया।

फीटे ने अपनी पुस्तक "Philosophical Curriculum" में लिखा "ईश्वर' मेरा पहला विचार है, ज्ञान दूसरा, मनुष्य तीसरा और अन्तिम।" इस पर फॉयेरबाख की टीका मनन करने के योग्य है, "आदर्शवाद और भौतिकवाद के झगडे का केन्द्र है मनुष्य का मस्तिष्क। जब हम यह जान लें कि किस प्रकार की वस्तु से यह मस्तिष्क बना हुआ है तब अन्य सब प्रकार की वस्तु तथा वस्तु निर्विशेष के विषय मे हमारे विचार स्पष्ट हो जायें।"

प्लेखानोव के कथनानुसार इस युक्ति में फॉयेरबाख ने अपनी दार्शनिक विचार-धारा का आरम्भ मनुष्य से इसलिए किया है कि इसके द्वारा वह

अपने ध्येय पर आसानी से पहुँच सकता था और उसका ध्येय था वस्तु-निर्विशेष के विषय में एक निर्भूल विचार की स्थापना करना तथा पदार्थ और मानस के सम्बन्ध पर प्रकाश डालना। यहाँ दर्शन-प्रवेश की जिस प्रणाली को फॉयेरबाख ने अपनाया है उसका कारण है समय और स्थान। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि उस समय के जर्मन विद्वानो की प्रणालियो की पूरी छाप फॉयेरबाख की रचनाओ पर है।

१८४२ मे (Vorlamfise Thesen Zur Reformer Philosophic (दार्शनिक सुधार का पूर्वभास) शीर्षक एक लेख मे फॉयेरबाख ने लिखा, "अस्तित्व (पदार्थ) और विचार का सम्बन्ध इस प्रकार बतलाया जा सकता है, अस्तित्व कर्ता है और विचार क्रिया है। विचार अस्तित्व का कार्यरूप है न कि कारण। अस्तित्व स्वयम्भू है, इसका मूल वह स्वय है"।

फॉयेरबाख के विचारानुसार अस्तित्व और विचार के जिस विरोध को कान्ट ने बहुत महत्त्व दिया है हेगेल ने उसको दबा दिया है। हेगेल ने इस विरोध को एक ही के अन्दर यानी विचार के अन्तर्गत सीमित कर दिया। हेगेल के लिए विचार ही अस्तित्व भी है। यह स्पप्ट है कि हेगेल तथा सभी आदर्शवादियो ने विचार और पदार्थ इन दोनो मे से एक अर्थात् अस्तित्व यानी भूत और प्रकृति को दबाकर ही इस विरोध का अन्त किया है। लेकिन किसी एक उपादान को दबाकर इस विरोध का निराकरण नही होता है। हेगेल का यह सिद्धान्त, कि विचार मे ही प्रकृति अन्तर्निहित है, उस धर्म-विज्ञान का दार्शनिक रूपान्तर-मात्र है जिसके अनुसार ईश्वर प्रकृति का स्रष्टा है और अभौतिक जीव भौतिक जीव का।

यह केवल हेगेल के पूर्ण आदर्शवाद के लिए ही लागू नही है। कैन्ट का अतीन्द्रियवादी आदर्शवाद जिसके अनुसार बाहरी दुनिया के नियमो का कारण है बुद्धि, न कि यह कि बुद्धि को उन नियमो का ज्ञान बाहरी दुनिया से प्राप्त होता है, उस धार्मिक कल्पना के समान है, जिसके अनुसार, ईश्वरीय बुद्धि ही उन नियमो को जन्म देती है, जिनसे इस दुनिया का नियन्त्रण होता है। आदर्शवाद पदार्थ और विचार के ऐक्य को न स्थापित

करता है और न कर सकता है। इसके विपरीत इस एकत्व को वह विनष्ट करता है। आदर्शवादी दर्शन का प्रारम्भ (अहसत्ता को मूल दार्शनिक सिद्धान्त मानना) ही भूल है। सच्चे दर्शन का प्रारम्भ होना चाहिए न केवल "मै" से बल्कि "मै" और 'तुम' (जो 'मै' के बाहर है) से। इसी प्रारम्भस्थल से हम विचार और पदार्थ, कर्ता और कर्म के सम्बन्ध को ठीक रूप में समझ सकते है। मै स्वय अपने लिए "मै" हूँ लेकिन दूसरे के लिए 'तुम'। मै एक साथ कर्ता हूँ और कर्म भी। इसके अलावा यह बतला देना आवश्यक है कि 'मैं' वह अमूर्त अह सत्ता नही है जिसको लेकर आदर्शवादी दर्शन का कारोबार है। 'मै' एक वास्तविक अस्तित्व है, या यो कहिये कि मेरा अस्तित्व वास्तविक है। मेरा शरीर मेरी सत्ता का एक अश है। इससे भी अधिक, मेरा शरीर ही, अपने समग्र रूप में, मेरी वास्तविक सत्ता है। जो विचार करता है वह अमूर्त अस्तित्व नही है, वह है वास्तविक अस्तित्व, यह शरीर। आदर्शवादियो के कथन के विपरीत, वास्तविक भौतिक अस्तित्व ही कर्त्ता है और विचार उसकी क्रिया। विचार और अस्तित्व के विरोध की समस्या का यही एकमात्र हल है। व्यर्थ ही आदर्शवाद की लहरें इस समस्या की चट्टानो से टकराती रहती है। विरोध के एक अग को दबाकर हम इस हल पर नही पहुँचते। इस हल मे दोनो अगो की रक्षा होती है और इसमे उनका ऐक्य आँखो के सामने आ जाता है। "जो कर्म विचारो की दृष्टि से विशुद्ध आत्मिक, अभौतिक तथा इन्द्रियो से असम्बन्धित है वह वास्तविक रूप से एक भौतिक इन्द्रिययुक्त कर्म है।

पाठक ध्यान रखें कि जिस समय फॉयेरबाख वर्तमान दर्शन का इतिहास लिख रहे थे, जिस समय आदर्शवाद से उनका नाता टूट ही रहा था, उस समय स्पिनोजा के दर्शन ने उनको बहुत आकृष्ट किया। वह उसके बहुत निकट हो गये थे। उपर्युक्त कथन स्पिनोजा और फॉयेर-बाख के इस निकट-सम्बन्ध का द्योतक है। १८४३ मे "ग्रुड सेट्स" मे तीव्रता के साथ उन्होने कहा कि सर्वेश्वरवाद (सर्वभूत मे ईश्वर को

देखना) धर्माभिभूत भौतिकवाद है, धर्म विद्या का नकारात्मक रूप है, लेकिन ऐसा रूप जो फिर भी धार्मिक दृष्टिकोण से चिपटा हुआ है। स्पिनोज़ा ने जिस प्रकार भौतिकवाद और धर्म-विज्ञान का मिश्रण किया है उससे उसके मत की असगति प्रकाशित होती है, लेकिन इस असगति के होते हुए भी वह अपने युग की सीमाओ के अन्दर आधुनिक भौतिकवादी विचारो को व्यक्त करने मे समर्थ हुआ।

फॉयेरबाख़ ने स्पिनोज़ा का नाम दिया "वर्तमान युग के स्वाधीन विचारको और भौतिकवादियो का मूसा"। १८४७ मे फॉयेरबाख़ प्रश्न करते है कि जब स्पिनोजा (तार्किक या अतिभौतिक रूप मे) पदार्थ और (धर्म-विद्या के अनुसार) ईश्वर के विषय में कहता है तो उसका अर्थ क्या है? फ़ॉयेरबाख़ का दृढ उत्तर है "प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ नही।" फॉयेरबाख़ के अनुसार स्पिनोज़ा का मुख्य दोष यह है कि "इस दर्शन मे धर्म-निरपेक्ष इन्द्रियानुभूत प्रकृति की सत्ता अमूर्त अतिभौतिक का रूप ग्रहण करती है।" स्पिनोज़ा ने ईश्वर और प्रकृति के द्वैत को दबा दिया है क्योकि वह प्राकृतिक व्यापार मे ईश्वर का ही कार्य देखता है। लेकिन चूँकि स्पिनोजा के मतानुसार प्राकृतिक कारोबार ईश्वर का ही कार्य है, ईश्वर उसके लिए प्रकृति से भिन्न एक सत्ता वन जाता है जिसके ऊपर प्रकृति निर्भर है। ईश्वर उसके लिए कर्ता है और प्रकृति कर्म। आज जब कि दर्शन ने स्पष्ट रूप से अपने को धार्मिक सस्कारो से मुक्त कर लिया है, उसको स्पिनोजा के सिद्धान्त के इस महान् दोष से भी मुक्त हो जाना चाहिए। अन्यथा स्पिनोज़ा का सिद्धान्त मूलत बहुत सही है। फॉयेरबाख़ का कथन है—इस विरोध को दूर करो।

इस प्रकार फायेरबाख़ का मानवतावाद स्पिनोज़ा का ही सिद्धान्त है, यदि इसमे से धर्मविद्या का जजाल निकाल दिया जाय। आदर्शवाद से पहले पहल नाता टूटने पर मार्क्स और एगेल्स ने इसी दर्शन को अपनाया। फॉयेरबाख़ एक स्थान पर कहता है "अस्तित्व के नियम विचार-जगत् के भी नियम है।" इस मत का खडन करते हुए भी मार्क्स ने फॉयेरबाख़ के

विचारो का ही विस्तार किया है। एक उदाहरण 'ज्ञान के सिद्धान्त' के क्षेत्र से दिया जाता है। फॉयेरबाख के अनुसार, किसी वस्तु के विषय मे मनन करने से पहले मनुष्य अपने ऊपर उसकी क्रिया का अनुभव करता है, उसका ध्यान करता है, उसका बोध करता है।

फॉयेरबाख के इस विचार को ध्यान में रखकर ही मार्क्स ने यह कहा "अब तक के भौतिकवाद का और फॉयेरबाख के भौतिकवाद का भी यह मुख्य दोष रहा है कि वह वास्तविकता को, इन्द्रियानुभूत वस्तु जगत् को मनन के विषय के रूप में देखता रहा, उसने वस्तु जगत् के अनुभव को व्यावहारिक अभ्यास तथा मनुष्य की क्रिया के रूप में नही देखा।" मार्क्स आगे चलकर कहता है कि भौतिकवाद के इसी दोष को ध्यान में रखकर हम यह समझ सकते है कि फॉयेरबाख ने अपनी पुस्तक "ईसाई धर्म का सार" मे विचारात्मक क्रिया को ही मानव की वास्तविक क्रिया क्यो माना है। फॉयेरबाख ने इस मत पर ज़ोर दिया है कि बाहरी वस्तु की क्रिया का विषय-मात्र बनकर मनुष्य उन वस्तुओ की पहचान करता है, लेकिन मार्क्स का कहना है कि वस्तु के ऊपर अपनी प्रतिक्रिया-द्वारा हम उसकी पहचान करते है।

मार्क्स ने अपने दर्शन में इस पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है कि हमे वस्तु ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है। उसका विवेचन आगे चलकर किया जायगा। यह विषय मन और भूत के आपसी सम्बन्ध से सम्बन्धित है। शेलिङ्ग ने अलकारिक ढग से इस विषय मे आदर्शवादी दृष्टिकोण को यो रक्खा है कि मन एक द्वीप है जिस पर भूत रूपी समुद्र से कूद कर ही पहुँचा जा सकता है। फॉयेरबाख भौतिकवादी दृष्टिकोण को परिहार करनेवालो के विरोध को दिखलाकर ही विराम नही लेते। वह यह भी दिखलाते है कि किस मार्ग से आदर्शवादी अपने द्वीप पर पहुँचते है। उनका कहना है कि "मै निरपेक्ष रूप से 'मै' नही हूँ, मै दूसरो के लिए 'तुम' भी हूँ। लेकिन मेरा अस्तित्व इन्द्रिययुक्त अस्तित्व है। विशुद्ध प्रज्ञा ने इस अस्तित्व को अमूर्त रूप में वास्तविकता से पृथक् किया है।

इसलिए मेरे और जो मैं नही हूँ उसके ीच का सम्बन्ध मनमानी प्रतीत होता है। विशुद्ध विचार, जिसका इन्द्रियो से कोई नाता नही, असलग्न विचार है।"इस महत्त्वपूर्ण वाक्य का सम्बन्ध प्रत्याहार के उस विश्लेषण से है जो हेगेल के तर्कशास्त्र का जन्मदाता है।

वर्तमान मनुष्य-शास्त्र को जिन बातो का पता है, यदि उनका ज्ञान फॉयेरबाख को होता तो वह यह कह सकते थे कि ऐतिहासिक रूप से दार्शनिक आदर्शवाद का उद्भव उस बुद्धि से है जिसके द्वारा आदिम जातियाँ हर वस्तु मे जीवधारी का रूप देखा करती थी। इस सम्बन्ध मे फॉयेरबाख की अन्तर्दृष्टि की एक झलक हमको मिलती है। उन्होने लिखा है, "वस्तु की धारणा मुख्य रूप से दूसरी आत्मा की धारणा के अतिरिक्त और कुछ नही है। इस प्रकार हर एक मनुष्य अपने बचपन मे बाहरी वस्तुओ को जीवधारी के रूप में देखता है जिनका व्यवहार नि सकोच तथा मनमानी होता है।

फॉयेरबाख के दर्शन के ऊपर मार्क्स ने जो टिप्पणियाँ की है उनके ग्यारह शीर्षक है। तीसरे शीर्षक मे मार्क्स का कहना है, "वह भौतिक-सिद्धान्त, जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि मनुष्य परिस्थितियो और शिक्षा की उपज है, इस बात को ध्यान मे नही रखता कि मनुष्य परि-स्थितियो मे कमोबेश परिवर्तन कर सकता और करता है और शिक्षक को स्वय शिक्षित होने की आवश्यकता है।"ज्यो ही इस समस्या का समाधान होता है, इतिहास की भौतिक धारणा का रहस्य खुल जाता है। लेकिन फॉयेरबाख इस समस्या का समाधान करने मे असमर्थ रहे। मार्क्स और एगेल्स को ही यह करना था। लेकिन इनको इस विषय में उनसे कुछ इगित प्राप्त हुए। फॉयेरबाख ने लिखा है—"कला, धर्म, दर्शन और विज्ञान मानवसत्ता के ही प्रकाश है।"इससे यह अर्थ निकलता है कि विचार-प्रणालियो की व्याख्या को मानवसत्ता में ही ढूंढ निकालना होगा। यानी विचार-प्रणालियो के विकास का आधार है मानवसत्ता का विकास। लेकिन यह 'मानवसत्ता' है क्या ? इस प्रश्न के उत्तर मे फॉयेरबाख का

कहना है कि यह मानवसत्ता मनुष्य के साथ मनुष्य के ऐक्य मे, उनके परस्पर सयोग में मिलती है। यह उत्तर बहुत ही अस्पष्ट है, परन्तु फॉयेरबाख इस सीमा के आगे बढ न सके। लेकिन इस सीमा को पार करने पर ही हम 'इतिहास की भौतिकवादी धारणा' (भौतिकवादी दृष्टिकोण मे इतिहास का विवेचन) पर पहुँच सकते है जिसके जन्मदाता है मार्क्स और एगेल्स। यह धारणा उन कारणो को व्यक्त करती है, जिनके द्वारा, मनुष्य-जाति के विकास मे, मनुष्यो का पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित होता है। यह सीमा-रेखा न केवल मार्क्स को फॉयेरबाख से पृथक करती है वल्कि यह भी दिखलाती है कि दोनो विद्वानो मे कितना मतैक्य और कितनी निकटता है।

फॉयेरवाख पर छठी टिप्पणी मे हम पाते है कि सामाजिक सम्बन्धो की समग्रता ही मानवसत्ता है। फॉयेरबाख की तुलना में यह परिभाषा बहुत सुस्पष्ट है, लेकिन इससे भी यह ज्ञात हो जाता है कि मार्क्स और फॉयेरवाख के दृष्टिकोण कितने समीप है।

नीचे लिखे हुए मार्क्स कथित ऐतिहासिक भौतिकवाद के विवरण मे यह सिद्ध हो जाता है, कि मार्क्स के ऊपर फॉयेरवाख का प्रभाव कितना अधिक था। "हेगेल के लिए मनन (जिसको वह एक स्वतन्त्र कर्ता का रूप देकर 'आदर्श' का नाम देता है) वास्तव का जनक है, और वास्तव उसके लिए आदर्श का बाहरी प्रकाशमात्र है। मेरे विचार से आदर्श उस वस्तु के अतिरिक्त और कुछ नही है जो मानव-मस्तिष्क के अन्दर रूपान्तरित हो चुकता है।"

फॉयेरवाख के व्यक्तित्व का विकास एक हेगेलवादी का विकास है जिसका हेगेलवाद परिणत होता है भौतिकवाद मे। इस विकास के लिए यह आवश्यक था कि एक विशिष्ट अवस्था मे उसके पूर्वगामी की आदर्शवादी प्रथा से उसका सम्पूर्ण विच्छेद होता। फॉयेरवाख ने घोषणा की कि भूत मानस की उपज नहीं है, मानस ही भूत की सर्वोत्कृष्ट उपज है। यह नि सन्देह विशुद्ध भौतिकवाद है। लेकिन यहाँ तक जाने के बाद

फ़ॉयेरबाख़ क जाता है। प्रचलित दार्शनिक पक्षपात—पक्षपात भौतिक-वाद की वास्तविकता के विरुद्ध नही बल्कि उसके नाम के विरुद्ध—के दोष से वह परे नही जा सका। वह कहता है—"मेरे लिए भौतिकवाद मानवसत्ता और ज्ञान की अट्टालिका का आधार तो है लेकिन स्वय अट्टा-लिका वह नही है जैसा कि शरीरशास्त्री या मॅलेशॉ जैसे सकुचित दृष्टि-कोणवाले भूतवैज्ञानिक कहते है। पीछे की ओर भौतिकवादियो से मेरी पूरी सहमति है, लेकिन आगे की ओर नही।"

फॉयेरबाख ने यहाँ उस भौतिकवाद को, जो कि भूत और मानस के सम्बन्ध की एक विशिष्ट धारणा के ऊपर अवस्थित, विश्व को निरीक्षण करने का एक व्यापक दृष्टिकोण है, मिला दिया उस भौतिकवाद से, जिसका प्रचार ऐतिहासिक विकास की एक विशेष अवस्था मे यानी अठा-रहवी सदी मे किया गया था। इससे भी अधिक वह भूल करता है जब वह इसको अठारहवी सदी के भौतिकवाद के उस छिछले और विकृत रूप मे देखता है, जो रूप आज भी प्रकृति-वैज्ञानिक और भूत वैज्ञानिको के मन मे विराजमान है और जिसका प्रचार १८५० ई० मे अपने दौरा में बुकनेर, फोग्ट और मोलेशॉट् ने किया था। लेकिन जैसे आदर्शवाद के विकास की कई अवस्थाये थी वैसे ही भौतिकवाद भी कई अवस्थाओ के अन्दर गुज़रकर विकसित हुआ है।

फॉयेरबाख का कहना बिलकुल सत्य है कि वह भौतिकवाद, जो प्रकृति-विज्ञान मे सीमित है, मानव-ज्ञान की अट्टालिका का आधार तो है, परन्तु वह स्वय अट्टालिका नही है। क्योकि प्रकृति मे ही केवल हमारा निवास नही है, मानव-समाज मे भी हम रहते है और प्रकृति की तरह इसके भी विकास का इतिहास और विज्ञान है। इसलिए प्रश्न यह था कि किस प्रकार समाज-विज्ञान का इस भौतिकवादी आधार से सामञ्जस्य स्थापित किया जाय और इसी आधार पर उसका पुनर्निर्माण किया जाय। लेकिन फॉयेरबाख को यह करना नही था। इस 'बुनियाद' के होते हुए भी वह परम्परागत आदर्शवादी शृखलाओ मे बँधा रहा जिसका प्रकाश उसने

इन शब्दों में किया है कि "पीछे तो मेरी भौतिकवादियो से सहमति है लेकिन आगे की ओर नही। लेकिन यह भी सत्य है कि फॉयेरबाख ही आगे नही बढ़ सका।

फॉयेरबाख की दार्शनिक सीमाओ को मार्क्स ने किस प्रकार अति-क्रम किया इसके उदाहरण के लिए नीचे फॉयेरबाख की 'ईसाई धर्म का सार' नामक पुस्तक से एक उद्धहरण दिया जाता है, जिसका मार्क्स ने खण्डन किया है—

"विश्वास और धर्म के विरोध में हमें उस व्यावहारिक आवश्यकता का अनुभव होता है कि हम अपने को ईसाई तथा सभी धार्मिक दृष्टि-कोणो के ऊपर उठावे। हमने यह दिखलाया है कि धर्म का उद्देश्य और तत्त्व सम्पूर्णरूप से मानवीय है। हमने यह दिखलाया है कि ईश्वरीय ज्ञान मानवीय ज्ञान है, धर्म-नियमो के रहस्य का पता चलता है मानव-विज्ञान से; पूर्ण मानस सीमित मनुष्य-मन का ही नाम है। लेकिन धर्म को यह पता नही कि जिससे वह बना है, वह मानवीय है, इसके विपरीत वह अपने को मानवीय वस्तुओ के विरोध मे रखता है। इतिहास वहाँ से बदल्ता है जब हम मान लेते है कि ईश्वर का ज्ञान मनुष्य-जाति के ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नही है, मनुष्य अपने व्यक्तित्व की सीमाओ को पार कर सकता है और अपने को उसके ऊपर उठा सकता है, लेकिन मनुष्य जाति की अवस्थाओ और उसके नियमो के ऊपर नही, मनुष्य-प्रकृति को छोड कर और कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसको मनुष्य पूर्ण की तरह सोच सकता है, या कल्पना कर सकता है या जिसको आदर और प्रेम कर सकता है, या जिसको स्वप्न में देख सकता है या जिसको चाह सकता है।" (ईसाई धर्म की सत्ता)।

इस उक्ति का सार यह है कि सब परिवर्तनो की सूचक है राय, या विश्वास में एक व्यापक परिवर्तन, फॉयेरबाख का उद्देश्य है व्यक्तिगत और सर्वसाधारण के स्वार्थ को मिला देना—मनुष्य-प्रकृति के नियम को

सार्थक करना—जिस नियम की बुनियाद है एक अमूर्त और अपरिवर्तनीय, ऐसा,कुछ, जो हर अलग अलग व्यक्ति मे विद्यमान है और जिसके कारण सब मनुष्य स्वभावत. एक है।

तीसरी टिप्पणी मे मार्क्स ने इसके एकतरफा स्थिर और अमूर्त रूप को दिखलाया है और इस विचार का खण्डन किया है।

मार्क्स और फॉयेरबाख के प्रभेद को स्पष्ट करने के लिए उसी पुस्तक का एक और उद्धरण, एगेल्स की एक टिप्पणी के सहित, नीचे दिया जाता है—

"मानवता के काल को धार्मिक परिवर्तनो के द्वारा विभाजित किया जा सकता है। किसी ऐतिहासिक आन्दोलन का मौलिक रूप तभी होता है जब मनुष्य के हृदय में इसकी जड हो। हृदय कोई धर्म का रूप नही है जिससे उसमें भी धर्म का निवास हो; हृदय ही धर्म का सार है।"

फॉयेरबाख के धर्म और नीति के इस दर्शन मे उसकी असली आदर्श-वादिता का रूप स्पष्ट हो जाता है। फॉयेरबाख के अनुसार धर्म वह सम्बन्ध है जिसकी बुनियाद है मनुष्यो के बीच प्रेम का सम्बन्ध और जिसकी बुनियाद है हृदय। धर्म अभी तक अपना सत्य वास्तविकता के अद्भुत प्रतिबिम्ब में खोजता रहा, एक या अनेक देवताओ के अन्दर मनुष्योचित गुणो के अद्भुत प्रतिबिम्ब मे इस सत्य को खोजता रहा। लेकिन अब इसको यह सत्य सीधा सीधा "मैं" और "तू" के ीच प्रेम के सम्बन्ध मे मिल जाता है और जिसके लिए किसी तीसरे माध्यम की आवश्यकता नही। इस प्रकार अन्त तक फॉयेरबाख के लिए धर्म के अभ्यास का सर्वश्रेष्ठ नही तो एक श्रेष्ठ रूप है यौन प्रेम।

मनुष्यो के बीच, विशेषकर पुरुष और स्त्री के बीच प्रेम का सम्बन्ध तभी से है जब से मनुष्य-जाति का अस्तित्व है। पिछले आठ सौ साल मे,

विशेषकर यौन सम्बन्ध का ऐसा विकास हुआ है कि उस काल की कविता का यह आवश्यकीय केन्द्रस्थल रहा है। वर्तमान धर्मों ने इस विषय में अपने को ऐसा सीमित किया कि उनका काम रह गया राष्ट्र-नियन्त्रित यौन प्रेम को (अर्थात् विवाह के नियमों को) पवित्र बनाना। आजकल यदि ये सब धर्म उड़ जायें तो भी प्रेम और मैत्री का काम जारी रहेगा। वास्तविकता तो यह है कि सन् १७९२ से १७९८ के बीच फ्रांस में ईसाई धर्म का ऐसा लोप हो गया कि नेपोलियन भी निर्विरोध और बिना किसी कठिनाई के इसकी पुनःस्थापना न कर सका और इस बीच लोगों को धर्म-जैसी किसी वस्तु की आवश्यकता का भी अनुभव न हुआ।

फॉयेरबाख की आदर्शवादिता इसी में है—वह यौन प्रेम, मित्रता, सहानुभूति, स्वार्थ-बलिदान आदि और परस्पर झुकाव के ऊपर प्रतिष्ठित पारस्परिक सम्बन्ध को, ज्यों के त्यों, बिना किसी धार्मिक सम्बन्ध के, (जिसका स्थान भी अतीत में है) ग्रहण नहीं कर सकता। बल्कि उसका कहना यह है कि धर्म की छाप से विशुद्ध होने पर ही इनका असली प्रकाश हो सकता है। उनके लिए मुख्य बात यह नहीं है कि इन अविमिश्र मानवीय सम्बन्धों का अस्तित्व है बल्कि यह कि इनकी कल्पना एक नये सत्य धर्म के रूप में की जाय। धर्म की मोहर लगने पर ही इनका पूरा मूल्य मिल सकता है। अँगरेजी धर्म शब्द की उत्पत्ति हुई है "रेलीगेर" (Religare) से जिसका मूल अर्थ है "बन्धन"। इसलिए दो मनुष्यों के बीच कोई बन्धन भी एक प्रकार का धर्म है। ऐसा शब्द-जाल ही आदर्शवादी दर्शन का आखिरी हथकण्डा है। इस शब्द के व्यवहार के ऐतिहासिक विकास में इसका आज क्या अर्थ है, इससे कोई मतलब नहीं—मतलब यह है कि मूल उत्पत्ति के अनुसार इसका क्या अर्थ होना चाहिए। इसलिए यौन प्रेम को धर्म स्थानीय किया गया है ताकि धर्म शब्द, जो आदर्शवादी को इतना प्यारा है, भाषा से उड़ न जाय। १८४० के लगभग लूई ब्लाक की तरह पैरिस के सुधारवादी इसी भाषा में बातें करते थे। वे धर्मविहीन मनुष्य की कल्पना दैत्य-दानव ही की तरह कर सकते थे

और कहते थे "तो नास्तिकता ही तुम्हारा धर्म है?" यदि फॉयेरबाख मुख्यत प्रकृति की भौतिक धारणा के ऊपर प्रतिष्ठित एक सच्चे धर्म की स्थापना चाहते है तो यह वैसा ही है जैसे आधुनिक रसायन शास्त्र को पारस पत्थर की जादू की तरह देखने की इच्छा। यदि धर्म का अस्तित्व बिना देवता के हो सकता है तो इस जादू का भी अस्तित्व बिना पारस पत्थर के हो सकता है।

फॉयेरबाख का कहना, कि मानव-इतिहास के ज्ञान को धार्मिक परिवर्तनो के द्वारा विभाजित किया जा सकता है, बिलकुल गलत है। धार्मिक परिवर्तन और महत्वपूर्ण ऐतिहासिक परिवर्तन का साथ रहा है—यह बात केवल तीनो विश्व-धर्मो के लिए, यथा बौद्ध, ईसाई और इसलाम धर्म के लिए कहा जा सकता है। प्राचीन आदिम कबीलो या जातियो के धर्म प्रचारशील नही थे, यानी ये कबीले दूसरो को अपने धर्म-मत में लाने के लिए प्रयत्नशील न थे और ज्योही इनकी स्वतन्त्रता खो जाती थी इन धर्मों के प्रतिरोध की शक्ति भी जाती रहती थी। जर्मनो के लिए, म्रियमाण रोमन साम्राज्य तथा उसका नव-स्वीकृत ईसाई धर्म, जो उसकी आर्थिक, राजनैतिक और मानसिक अवस्था के लिए सर्वथा उपयुक्त था, के सस्पर्श मे आना ही काफी था। कमोबेश कृत्रिम उपायो से सृष्ट विश्व-धर्म, विशेषकर ईसाई और इसलाम धर्म के सम्बन्ध मे ही हम देखते है कि व्यापक ऐतिहासिक आन्दोलनो पर धर्म की छाप है। ईसाई धर्म के लिए भी इस धर्म की छाप, व्यापक और महत्त्वपूर्ण क्रान्तियो के क्षेत्र मे, तेरहवी से सत्रहवी सदी तक, जो कि पूँजीवादी वर्ग के स्वाधिकार-प्राप्ति के सघर्ष की प्रथमावस्था है, सीमित है। इसका भी कारण, जैसा फॉयेरबाख सोचता है, मनुष्य के हृदय और उनकी धार्मिक आवश्यकता नही है, बल्कि मध्ययुग के पूर्व का सारा इतिहास, जो हर चीज को धर्म के पहनावे मे ही देखता था। लेकिन उस अठारवहवी सदी के पूँजीवादियो मे जब इतनी शक्ति आ गई कि वह अपनी उस विचार-शैली को रख सके जिसका उनके श्रेणीस्वार्थ से सामञ्जस्य था, तब उसने उस

चतुर्थ अध्याय

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

यद्यपि फॉयेरबाख ने मार्क्स के भौतिकवादी विचारो को पुष्ट करने मे काफ़ी सहायता दी और एक सीमित अर्थ मे मार्क्स ने उसका शिष्यत्व भी किया लेकिन सहज ही उसने फॉयेरबाख की धार्मिक सीमा को अतिक्रम किया। फॉयेरबाख ने हेगेल के आदर्शवाद का खण्डन किया और भौतिकवाद के आधार को मज़बूत बनाया ,लेकिन इस प्रक्रिया मे हेगेल के द्वन्द्वात्मक न्याय का भी अन्त किया। मार्क्स ने इस द्वन्द्वात्मक न्याय की मर्यादा को अक्षुण्ण रखते हुए भौतिकवाद को अपनाया। इसी लिए मार्क्सीय दर्शन का नाम "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" है।

आदर्शवाद और भौतिकवाद—एक तुलना—आदर्शवादी दर्शन इस जगत् को एक "पूर्ण विचार" या कल्पना, एक "विश्वात्मा" या "आत्म-ज्ञान" का मूर्त रूप समझता है। मार्क्सीय दर्शन के अनुसार इस जगत् का असली रूप है भौतिक। इस जगत् के विचित्र और विभिन्न दृश्यमान व्यापार भूत की गति के ही विभिन्न रूप है। इन दृश्यमान व्यापारो के आपसी सम्बन्ध गतिशील भूत के विकास के नियम है और इन्ही नियमो के अनुसार जगत् का विकास होता है, और इसे किसी विश्वात्मा की आवश्यकता नही। एगेल्स के शब्दो मे भौतिकवादी दृष्टिकोण प्रकृति की कल्पना उसी प्रकार करता है जैसा कि वह है—उसमे कुछ घटाता-बढाता नही।

आदर्शवादी विचार के अनुसार वास्तविक अस्तित्व है मन का। भौतिक जगत्, जीव और प्रकृति का निवास-स्थल है हमारा मन, हमारी इन्द्रियानुभूति, हमारे विचार और हमारी कल्पनाये। इसके विपरीत मार्क्सीय दर्शन भूत, प्रकृति और जीव के वास्तविक अस्तित्व को सत्य

मानता है और यह भी मानता है कि इनका अस्तित्व मन के ऊपर निर्भर नही है। इसके अनुसार भूत ही प्रथम है क्योंकि इसी से इन्द्रियानुभूति, विचार और मन की उत्पत्ति है और मन का द्वितीय स्थान है क्योकि यह भूत से उत्पन्न है, तथा भूत और जीव का प्रतिविम्व-मात्र है। मनन या चिन्तनक्रिया भूत की ही उपज है जो परिपूर्णता की एक उच्च सीमा तक पहुँच चुका है, यानी मस्तिष्क का रूप प्राप्त किया है। यह मस्तिष्क मनन-क्रिया का साधनमात्र है, इसलिए मनन-क्रिया को भूत से पृथक् करना वडी भारी भूल है। एगेल्स के शब्दो में —

"भौतिक अस्तित्व और मनन, प्रकृति और जीवात्मा, के सम्बन्ध का प्रश्न ही दर्शनशास्त्र का मुख्य प्रश्न है। इस प्रश्न के उत्तर के ऊपर ही दार्शनिको के दो मुख्य दलो की सृष्टि हुई है। जो जीवात्मा को प्रकृति से पहले मानते है वे आदर्शवादियो के दल में है और जो प्रकृति को पहले मानते है वे भौतिकवादियो के दल मे है।" भूत और चिन्तन-क्रिया के प्रश्न पर मार्क्स का कहना है "चिन्तन-क्रिया को उस भूत से जो भूत की चिन्ता करता है, पृथक् करना असम्भव है।" लेनिन के शब्दो में "विश्व-चित्र यही है कि भूत किस प्रकार गतिमान है और उसकी चिन्तनक्रिया कैसी है।"

आदर्शवादी मतानुसार इस जगत् को और इसके नियमो को हम जान नही सकते। हमारे ज्ञान की वास्तविकता नही है। वस्तु-निर्भर सत्य का अस्तित्व नही है। यह जगत् वस्तु-स्वरूपो से परिपूर्ण है जहाँ विज्ञान की कोई पहुँच नही। मार्क्सीय दर्शन के अनुसार इस जगत् और इसके नियमो को हम पूरे तौर पर जान सकते है, हमारा ज्ञान जो प्रयोग और अनुभव-द्वारा प्राप्त है, वास्तविक ज्ञान है जिसको हम वाह्य-जगत् से मिलाकर जाँच सकते हैं। जगत् में कोई वस्तु अज्ञेय नही है, केवल यही कहा जा सकता है कि अभी हम इनको नही जानते लेकिन जिनका ज्ञान हमको प्रयोग और अनुभव के द्वारा प्राप्त हो जायगा।

कान्ट तथा दूसरे आदर्शवादियो के मत का खण्डन करते हुए कि

जगत् और वस्तु-स्वरूप अज्ञेय है और भौतिकवादी मत की पुष्टि करते हुए कि हमारा ज्ञान वास्तविक ज्ञान है, एगेल्स लिखता है—

"इसका तथा अन्य दार्शनिक कल्पनाओ का उत्तर है प्रयोग और उद्योग। यदि हम किसी प्राकृतिक प्रक्रिया के विषय मे अपनी कल्पना की सत्यता का प्रमाण उस वस्तु को स्वय बनाकर ही दे सके, उसको अपनी अवस्थाओ के बाहर उत्पन्न करके और इसके अलावा उसको अपने व्यवहारोपयोगी बनाकर, तब कैन्ट के वस्तु-स्वरूप का अन्त हो जाता है। उद्भिजो और पशुओ के शरीरो मे जिन रासायनिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है वे इसी प्रकार के वस्तु-स्वरूप थे जब तक कि Organic Chemistry (जैविक रसायन-विज्ञान) ने एक के बाद एक प्रयोगशाला मे उनको नही बनाया। उदाहरण के लिए नील को अब कोई पौधा जमाकर नही पैदा करता बल्कि अब यह तारकोल से बनाया जाता है, बहुत सरल उपाय से और सस्ते मे। तीन सौ साल तक कोपरनिकस् की सूर्यमण्डली का तथ्य एक अनुमान था जिसकी सत्यता का पूरा पूरा अन्दाज़ था, लेकिन फिर भी वह एक अनुमान-मात्र था, अन्त में जब लभरियेर ने इस प्रथा की दी हुई गणनाओ से न केवल एक अज्ञात तारिका के अस्तित्व की प्रयोजनीयता का निर्देश किया बल्कि द्यूलोक मे इसकी स्थिति का पता भी बताया और जब गाले ने इस तारिका को खोज निकाला तब कोपरनिकस् की प्रथा सत्य प्रमाणित हो गई।"

द्वन्द्वन्याय—हमारी प्रज्ञा कोई ईश्वरदत्त वस्तु नही है बल्कि इसके मूल मे है व्यवहार और प्रयोग। इसकी आलोचना आगे चल कर की जायगी। यहाँ पर मार्क्स के भौतिकवाद को समझने के लिए पहले द्वन्द्व-मान के नियमो को जानना आवश्यक है।

द्वन्द्वमान (Dialctics) की व्युत्पत्ति है एक यूनानी शब्द से जिसका अर्थ है दो मनुष्यो के बीच वार्तालाप। इस वार्तालाप मे एक तर्क की उत्थापना की जाती है फिर उसका खण्डन होता है जिससे नये तर्क की उत्थापना होती है और इस प्रकार वे एक नीचे दर्जे के सत्य

से ऊँचे दर्जे के सत्य पर पहुँचते है। यह एक क्रमोन्नति की प्रक्रिया है, इसमें स्थिरता नही है, वेग है। यही प्रक्रिया सारी प्रकृति में वर्तमान है। मानव-समाज और प्रकृति के इतिहास से ही द्वन्द्वमान के नियम निकाले गये है। ये नियम व्यापक रूप से सब प्रकार की गति के नियम है। इसके तीन नियम मुख्य हैं —

(१) परिमाण का गुण मे तथा गुण का परिमाण मे परिवर्तन करने का नियम।

(२) विरोधियो के अन्त प्रवेश का नियम तथा स्वय विपरीतानुवर्तन का नियम।

(३) प्रतिषेध के प्रतिषेध का नियम।

इन तीनो नियमो का विस्तार हेगेल ने आदर्शवादी तरीके से विचार के नियमो के रूप मे किया है। पहला नियम हेगेल के तर्कशास्त्र के पहले खण्ड मे है जिसका नाम है "अस्तित्व का सिद्धान्त" (Doctrine of Being) दूसरा नियम दूसरे खण्ड में है जिसका नाम है "सत्ता का सिद्धान्त" (Doctrine of Essence)। तीसरा नियम है उसकी सारी प्रथा का बुनियादी नियम। मार्क्सवाद इन नियमो को प्राकृतिक नियमो के रूप में देखता है।

पहला नियम—पहले नियम को हम यो कह सकते है कि प्रकृति में गुणात्मक परिवर्तन भूत या गति के परिमाण में कमी या वेशी के कारण होता है। प्रकृति मे गुणो का प्रभेद निर्भर है रासायनिक सगठन के प्रभेद पर या गति (या शक्ति) के परिमाण या रूप पर। इसलिए भूत या गति घटाये-बढाये विना किसी वस्तु के गुणो मे परिवर्तन करना सम्भव नही।

दूसरा नियम—दूसरे नियम की पूर्ति हम यो भी कर सकते है कि हर एक वस्तु दो विरोधी भावो का सयोग है, यानी हर वस्तु मे — और यही बात चिन्तन-क्रिया के लिए भी लागू है—दोनो पहलू है, भावात्मक और अभावात्मक, धनात्मक और ऋणात्मक। दूसरे शब्दो में सत्य-विरोधात्मक है। अतिभौतिकवादी इस सहज सत्य की उपलब्धि नही कर

सकता, इसलिए कि वह हर वस्तु को स्थिर रूप मे देखता है, लेकिन यह जगत् और इसके पदार्थ सदा चञ्चल है।

पिछले अध्याय मे हमने देखा है कि गति-मात्र इस प्रकार के विरोधात्मक सत्य का उदाहरण है। किसी वस्तु के स्थान-परिवर्तन को हम यो ही समझ सकते है कि वह वस्तु एक ही समय पर एकाधिक स्थान पर है तथा एक ही स्थान पर है भी और नही भी है। इस विरोधाभास का हल है गति।

सख्याणु गणित (Differential Calculus) यह मान कर चलता है कि एक ही रेखा ऋजु और बक्र दोनो है और इस बुनियाद पर जो नतीजे निकलते है, उनका हम व्यवहारिक उपयोग करते है। एक असीम व्यास के वृत्त की परिधि के एक छोटे अश को ले लीजिये। यह होगी एक ऋजु रेखा लेकिन एक वृत्त के अश के नाते यह रेखा वक्र भी है। इसी प्रकार का एक उदाहरण और लीजिये। दो ऋजु रेखाये यदि किसी बिन्दु पर मिलती है तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि उस बिन्दु से थोडी ही दूर पर ये दोनो रेखाये समानान्तर है। गणित ही मे और उदाहरण ले लीजिए। यह एक विरोधाभास है कि किसी सख्या के वर्गमूल को उसके वर्गफल के रूप मे प्रकाशित किया जाय, जैसे $क^{½} = \sqrt{क}$। इससे भी अधिक कि कोई ऋणात्मक सख्या किसी सख्या का वर्ग हो सकती है, क्योकि वर्गीकरण का यह साधारण नियम है कि ऋणात्मक सख्या का वर्ग घनात्मक होता है। लेकिन $\sqrt{-१}$ गणित का एक आवश्यक अग है। [खण्डीकरण {Fractorisation} का उदाहरण $क^2 + ख^2 = (क + ख\sqrt{-१})\ (क - ख\sqrt{1})$]

भौतिक विज्ञान मे विरोधियो के ऐक्य का उदाहरण है अणु। स्वय तडित् की अणु मे क्रिया-प्रतिक्रिया नही है। लेकिन यह जिन अशो से बना है उसमे से एक घन-तडितात्मक है--**प्रोटन** और दूसरा ऋण-तडितात्मक है---इलेक्ट्रन।

जीवन तो सर्वथा विरोधमय है। वह हर समय कुछ है और कुछ अन्य भी है। ज्योंही इस विरोध का अन्त होता है, जीवन का भी अन्त हो जाता है।

विचार-क्षेत्र में भी यह विरोध विद्यमान है। मनुष्य की ज्ञान-शक्ति अपरिसीम है, लेकिन उसका वास्तविक ज्ञान सीमाबद्ध है।

अब परिमाण के गुणात्मक परिवर्तन के कुछ उदाहरण ले लीजिये।

भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में सबको विदित है कि आलोक-तरग एक प्रकार के (Electro Magnetic) तरग है। इन तरगो की लम्बाइयो के घटने-बढने के कारण विभिन्न प्रकार की रश्मियो की उत्पत्ति होती है। जो आलोक मनुष्य की आँखो मे दिखाई पडता है वह इन तरगो का एक छोटा हिस्सा है। जिन रश्मियो को हम देखते है वे मुख्यत सात रग की है जो आरम्भ होती है लाल से और जिनका अत होता है बैंगनी से। लाल के उधर इन तरगो की लम्बाई बढती जाती है और बैंगनी के उधर यह लम्बाई घटती जाती है।

एक साधारण उदाहरण है वस्तुकण (Mlecule) के अन्तिम विभाजन पर परमाणु (atom)की उत्पत्ति। परमाणु और वस्तुकण के गुणो मे बहुत प्रभेद है।

जैविक रसायनशास्त्र के पैराफिन के प्रकार को ले लीजिये। उनका साधारण अक है C_nH_{2n+2} जहाँ C है कार्बन (कोयला की जाति) H है हाइड्रोजन (उद्जान) और n (number), है अणुओ की सख्या। इन अणुओ की सख्या बढाने से उस वस्तु के गुण में परिवर्तन हो जाता है और भिन्न पैराफिन की सृष्टि होती है। चर्बी-युक्त तेजाब (Fatty acids) का अक है $C_nH_{2n}O_2$। इस सख्या को १, २, ३, करते जाइए तो निम्नलिखित Acids (तेजाब) पैदा होती हैं —

फॉर्मिक —उबलने का ताप १००° द्रव होने का ताप १०°
ऐसेटिक ,, ,, ,, ११८° ,, ,, १७०°
प्रोपिओनिक ,, ,, ,, १४०°
बिउटिरिक ,, ,, ,, १६२°
वैलिरियानिक ,, ,, ,, १७५°

जिसका अन्तिम प्रकार है मेलिसिक ऐसिड $C_{30}H_{60}O_2$ जिसके उबलने का कोई ताप नही है क्योकि उबलने से पहले ही यह टूट जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि एक मात्रा CH_2 के बढाने से उस एसिड पदार्थ मे कैसा गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। पैराफिनो के लिए भी यह लागू है। उस माला मे पहली जगह है मिथेन की जो एक वायवीय पदार्थ है (CH_4), और अन्तिम स्थान है हेक्साडिकेन का जो बिना रग का ठोस पदार्थ है, जिसके गलने का ताप है २१० और उबलने का ताप है २७८°।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे पूँजी स्वय एक ऐसा उदाहरण है। धन का एक निम्नतम परिमाण है जिसके रहने पर ही उसका स्वामी पूँजीपति कहला सकता है। मार्क्स ने उद्योग की किसी शाखा के एक श्रमिक का उदाहरण लिया है जो आठ घण्टे तक अपने लिये, यानी अपनी मजदूरी का अर्थ उत्पन्न करने के लिए श्रम करता है और चार घण्टे अतिरिक्त अर्थ पैदा करने के लिए, जो उसके मालिक की जेब मे जाता है। इस विशेष दृष्टान्त मे यदि पूँजीपति अपने अतिरिक्त अर्थ के द्वारा मज़दूर-श्रेणी का जीवन भी बिताना चाहता है तो उसके पास इतना धन होना चाहिए कि वह दो मज़दूरो के लिए मज़दूरी, कच्चा माल तथा उत्पादन के साधनो का बन्दोबस्त कर सके। लेकिन पूँजीपति का उद्देश्य केवल जीना नही है बल्कि अपनी सम्पत्ति की वृद्धि करना है। इसलिए इस धन का मालिक अभी पूँजीपति नही है। अब यदि पूँजीपति को मज़दूर से दुगुना अच्छा जीवन व्यतीत करना है और अतिरिक्त अर्थ का आधा कारोबार मे फिर डालना है तो उसको आठ मजदूरो को काम मे लगाना चाहिए और पहले अर्थ-

सग्रह का चौगुना कारोवार मे लगाना चाहिए। अव यह अर्थसग्रह पूँजी का आकार ले लेता है। इस प्रकार अर्थसग्रह का परिमाण वढते-वढते एक सीमा पर वह पूँजी के रूप में परिणत हो जाता है।

समाज-विज्ञान के क्षेत्र मे इस गुणात्मक परिवर्तन की गवाही के लिए एगेल्स ने नेपोलियन को साक्षी माना है। फ्रासीसी घुडसवार, जो नियन्त्रित सिपाही थे लेकिन कोई अच्छे घुडसवार न थे और मामेलूक जो वहुत अच्छे घुडसवार थे लेकिन जिनमे नियन्त्रण नही था, उनकी लडाई के सिलसिले मे वह कहता है, "दो मामेलूक आसानी मे तीन फ्रासीसियो का मुकावला कर सकते थे। सौ मामेलूक सौ फ्रासीसियो के वरावर थे। लेकिन ३०० फ्रासीसी साधारणतया ३०० मामेलूको को पराजित कर सकते थे और १००० फ्रासीसी अवश्य ही १५००मामेलूको को हरा देते थे।" पहले के उदाहरण की तरह इससे यह स्पष्ट है कि नियन्त्रित सिपाहियो के जत्थे के परिमाण के वढने पर उसका किस प्रकार गुणात्मक परिवर्तन होता है और वह अपने से अधिक सख्यक फौज को हरा देता है।

प्रतिषेध का प्रतिषेध—इस नियम को प्रकृति मे हम किस रूप मे पाते है? जौ के एक दाने को ले लीजिये। यदि यह ठीक ज़मीन पर गिरे तो गर्मी और नमी के प्रभाव से इसमे एक विशेप परिवर्तन होता है—इसमें से पौधा उगने लगता है। उस दाने के अस्तित्व का अन्त हो जाता है, उसका प्रतिषेध हो जाता है। उसके स्थान पर जो पौधा उगता है, वह उस दाने का प्रतिषेध है। यह पौधा वढता है, इसमें फूल आते है और फिर उसमे जौ के दाने उत्पन्न होते है। लेकिन इन दानो के पकने के साथ ही उस पौधे का भी अन्त हो जाता है। अब प्रतिषेध का प्रतिषेध होकर नये जौ के दाने हो गये, एक ही दाना नही वल्कि मूल दाने का दस-बीस या तीस गुना।

अब पतिंगे का उदाहरण लीजिए। यह अण्डे से निकलता है, उसके प्रतिषेध के वाद ये पतिगे बढकर पूर्ण यौन विकास को प्राप्त होते है

और यौन सम्बन्ध से अण्डे पैदा कर मर जाते है। प्रतिषेध का प्रतिषेध होकर फिर अण्डे पैदा हो गये; एक नही अनेक।

अब गणितशास्त्र को लीजिए। किसी अक-चिह्न को लीजिए + 'क'। इसका प्रतिषेध है – 'क'। यदि – 'क' से गुणा कर हम इसका प्रतिषेध करे तो इसका फल होता है $क^2$। प्रतिषेध के प्रतिषेध से मूल अक फिर लौट आया लेकिन और ऊँचे स्तर पर, अपने वर्गफ़ल के रूप मे। इसमे कोई हानि की बात नही है कि यही नतीजा 'क' और 'क' के गुणा से भी प्राप्त होता है क्योकि $'क'^2$ के वर्गमूल मे सदा दोनो अक रहते है 'क' और – 'क'।

सख्याणु गणित के द्वार। किसी गणित की समस्या का हल तो इसका और भी अच्छा उदाहरण है। दो अक-चिह्न 'क' और 'ख' ले लीजिए जिनके परिवर्तन का आपसी सम्बन्ध निर्धारित है, यानी यदि किसी एक मे परिवर्तन हो तो दूसरे में परिवर्तन का स्थिरीकरण उस उक्त सम्बन्ध से हम कर सकते है। यदि हम दोनो का प्रतिषेध करे तो घटते-घटते ये दोनो अक नही के बराबर हो जाते है लेकिन उनका पूर्व सबध ज्यो का त्यो बना रहता है। इसको अक मे हम यो रख सकते है $\frac{\text{सख्याणु 'क'}}{\text{सख्याणु 'ख'}} = \frac{0}{0}$। लेकिन यह सम्बन्ध बराबर है $\frac{'क'}{'ख'}$ के। अब इस प्रतिषेध के द्वारा जब हम उस समस्या का हल कर लेते है तो हम फिर मूल अक पर उपनीत होते है। पूर्व प्रतिषेध का प्रतिषेध और समस्या का हल हो गया।

इतिहास के लिए भी यह बात लागू है। सब सभ्य जातियो का आरम्भ भूमि के सामूहिक स्वामित्व से होता है। सब जातियो के लिए, जो एक निर्दिष्ट अवस्था को पार कर चुकी है, कृषि के विकास के एक स्तर पर, भूमि का सामूहिक स्वामित्व उत्पादन-क्रिया के लिए बाधक स्वरूप बन जाता है। इसका अन्त किया जाता है, इसका प्रतिषेध होता

है और कुछ बीच के स्तरो को पार कर व्यक्तिगत सम्पत्ति मे रूपान्तरित हो जाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति से ही कृषि का ऊँचे स्तर पर विकास होता है, लेकिन यह व्यक्तिगत सम्पत्ति ही आगे चल कर कृषि की उत्पादन-क्रिया के लिए वाधक स्वरूप हो जाती है। अब इसके प्रतिषेध की, और भूमि पर सामूहिक स्वामित्व की मांग होने लगती है। लेकिन यह मूल रूप से वहुत भिन्न होगा जिसमें आधुनिक आविष्कारो का पूरा उपयोग किया जा सकेगा।

दर्शन के क्षेत्र में स्वय द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही एक ऐसा उदाहरण है। पहले के भौतिकवाद का प्रतिषेध हुआ आदर्शवाद और इस आदर्शवाद का प्रतिषेध हुआ फिर भौतिकवाद। लेकिन यह भौतिकवाद यान्त्रिक भौतिकवाद नही बल्कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। इसका विशद विचार आगे चलकर किया जायगा। दार्शनिक क्षेत्र में एक और उदाहरण ले लीजिए—रूसो के समतावाद का तथ्य। रूसो के अनुसार, प्राकृतिक वर्वरयुग मे सव मनुष्य समान थे। और चूंकि रूसो भाषा को भी इस प्राकृतिक अवस्था का विकार मानते है, उन्हे पूरा अधिकार है कि एक ही जाति के पशुओ के बीच की समता को उन पशु-मनुष्यो के लिए भी लागू करे जिनको हेकेल ने एक आनुमानिक श्रेणीयुक्त किया है—अालाली—मूक। लेकिन इन पशु-मनुष्यो को अन्य पशुओ की अपेक्षा एक सुविधा थी—उन्नति की शक्ति—और यही असमता का कारण थी। इसलिए असमता में रूसो उन्नति का कारण देखते है। लेकिन यह उन्नति विरोधपूर्ण थी—यह साथ ही साथ अवनति भी थी। उन्नति का मार्ग यही था कि मनुष्य व्यक्तिगत रूप से पूर्णता की ओर कदम वढाता लेकिन यही कदम मनुष्य-जाति के लिए अवनति का भी कदम था। सभ्यता का हर एक कदम असमता की ओर अग्रसर होता था। यह निर्विरोध सत्य है और वैधानिक नियम का मूल सत्य भी है कि लोग सरदारो को चुनते है अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए न कि उसका अन्त करने के लिए। फिर भी ये सरदार अवश्य ही लोगो के सतानेवाले वन जाते है और यहाँ तक सताते

है कि यह असमता चरम सीमा पर पहुँचकर अपने विपरीत बन जाती है और समता का कारण बन जाती है, क्योकि निरकुश शासक के सामने सब समान है, सब शून्य है। लेकिन यह शासक तभी तक प्रभु है जब तक वह जबरदस्त है और जब वह निकाला जाता है तब जबरदस्ती की शिकायत नही कर सकता। शक्ति ही उसकी प्रभुता बनाये रखती है। अन्त मे शक्ति से ही उसका पतन होता है। सब प्राकृतिक और सही रास्ते पर ही चलते है। इस प्रकार असमता फिर एक बार समता मे रूपान्तरित हो जाती है—लेकिन यह मूक प्राथमिक मनुष्य की प्राकृतिक समता नही है, यह समाज-चुक्ति की उन्नत समता है। सतानेवाले सताये जानेवाले हो जाते है—प्रतिषेध का प्रतिषेध हो जाता है।

हमने यह देख लिया कि प्रतिषेध के प्रतिषेध का नियम प्रकृति, इतिहास ,और विचार-राज्य के विकास का नियम है जो पशु और उद्भिद् जीवन, गणितशास्त्र, इतिहास और दर्शन सब क्षेत्र के लिए लागू है। लेकिन यह ध्यान रहे कि इसका एक विकृत प्रयोग भी हो सकता है। जैसे यदि कोई कहे कि जौ के दाने को कुचल और मसल कर उसका प्रतिषेध होता है तब यह भूल होगी क्योकि इसमे यदि प्रतिषेध होता भी है तो भी इसके पुन प्रतिषेध की कोई सम्भावना नही है। इसलिए इस प्रकार का प्रतिषेध नियम के बाहर का प्रतिषेध है।

विचार-जगत् और द्वन्द्वन्याय—तर्कशास्त्र का साधारण नियम है "हाँ, हाँ है, और नही, नहीं है।" इसके विपरीत द्वन्द्वमान कहता है कि हाँ नही है और नही हाँ है। ऊपरी दृष्टि से द्वन्द्वमान की भाषा बहुत ही विरोधपूर्ण है। लेकिन कुछ विचार करने पर इसकी सत्यता प्रमाणित हो जायगी।

तर्कशास्त्र के तीन बुनियादी नियम है। (१) एकता का नियम, (२) विरोध का नियम और (३) मध्य परिहार का नियम।

पहले नियम के अनुसार 'क' है 'क', या 'क'='क'। दूसरा नियम पहले नियम का नकारात्मक रूप है। इसका रूप है 'क' नही है न 'क'।

तीसरे नियम के अनुसार किसी के लिए दो विरोधी गुण एक साथ सत्य नहीं हो सकते। वास्तव में या तो 'क' 'ख' है या 'क' 'ख' नहीं है यदि इनमें से एक बात सत्य है तो दूसरी असत्य है और यदि दूसरी सत्य है तो पहली असत्य है। इनके मध्य में कोई बात नहीं हो सकती।

युबेरवेग के निर्देशानुसार दूसरे और तीसरे नियमों को इस प्रकार मिलाया जा सकता है--किसी विशिष्ट प्रश्न का कि किसी वस्तु-विशेष का अमुक गुण है या नहीं, उत्तर हो सकता है हाँ या नहीं, 'हाँ' और 'ना' दोनों में उसका उत्तर नहीं दिया जा सकता।

इन नियमों में कोई भूल नहीं मालूम पड़ती। फिर द्वन्द्वमान का नियम क्योंकर सही है? प्रकृति में ही इसका उत्तर मिल जाता है, जिसका विवरण पीछे दिया जा चुका है और अभी आगे चलकर फिर दिया जायगा।

अतिभौतिक विचार-प्रणाली की, जो कि तर्कशास्त्र में प्रकाश पाती है, गड़बड़ी यह है कि व्यष्टि और समष्टि, इकाई और समूह, सब को एक साथ मिला दिया जाता है।

इसलिए जब मैं कहता हूँ कि राम मनुष्य है तो मेरा अर्थ यह है कि 'राम' मनुष्य जाति का एक विशिष्ट नमूना है। 'राम' को मैं तब समझ पाता हूँ जब इसके व्यापक रूप मनुष्य, से मिलान करता हूँ।

अतिभौतिक विचार शैली यह मान कर चलती है कि व्यापक श्रेणी (General Category) मनुष्य और विशिष्ट श्रेणी 'राम' स्वतन्त्र रूप से विराजमान हैं, जो परस्पर निर्भर नहीं हैं, कि मनुष्य-जाति का साधारण व्यापक रूप राम, श्याम, हरि आदि सृष्टि के सब विशिष्ट मनुष्यों के बहुत ऊपर विराजमान है और रहेगा चाहे विशिष्ट मनुष्य सब के सब मिट क्यों न जाएँ।

इसी प्रकार निश्चित परिमाणों में उद्जान और अम्लजान के मिश्रण से पानी बनता है। अतिभौतिकवाद के लिए पानी में अम्लजान और उद्जान का पृथक् अस्तित्व बना रहता है। केवल तर्कन्याय में पानी तथा अम्लजान और उद्जान का एकीकरण होता है। रहस्यमय कल्पना इससे

यह परिणाम निकालती है कि अम्लजान और उद्जान तथा पानी सभी एक साथ आस-पास रहे हैं और अनत काल तक रहेगे।

द्वन्द्वमान इस स्थावर अतिभौतिकता का भेद कर जाता है। मनुष्य शब्द मे सब सम्भव मनुष्य सम्मिलित हैं। लेकिन "मनुष्य जाति" और मनुष्यगण यद्यपि भिन्न और पृथक् तार्किक श्रेणियाँ (Categories) हैं लेकिन केवल तार्किक दृष्टि से ही वे ऐसे हैं—एक ही घटनावलि के देखने के लिए ये विभिन्न दृष्टिकोण हैं। व्यापकता के दृष्टिकोण से अर्थात् उस दृष्टिकोण से, जिसमे एक ही मनुष्य-जाति का सदस्य होने के नाते सब एक समान हैं, "मनुष्य-जाति" है सब मनुष्यो की समष्टि। "मनुष्य गण" इसी घटना की, सब मनुष्यो की समष्टि की ही एक और कल्पना है, लेकिन इस अर्थ मे कि कोई भी मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य के समान नही है। द्वन्द्वमान के लिए विशेप और व्यापक (साधारण), एक और सर्व (Universal), बावजूद इनके तार्किक विरोध के, एक दूसरे में और एक दूसरे के द्वारा अवस्थित हैं। 'राम' का 'रामपन' उसके मनुष्यपन से पृथक् रूप में न रह सकता है न उसके रहने की कल्पना की जा सकती है। मनुष्य को मनुष्य रूप मे हम जानते हैं उस साधारण गुण से, जो सब विशिष्ट मनुष्यो मे विद्यमान है, और हर विशिष्ट मनुष्य की पहचान तभी हो सकती है जब व्यापक मनुष्य-रूप से उसकी भिन्नता को दिखलाया जाय।

हेगेल के तर्कशास्त्र का यही गुण है कि वह विरोधियो के एकत्व को मानता है और उनको श्रेणीबद्ध करता है (तार्किक रूप मे), एक ओर पूर्णरूप से व्यापक और दूसरी ओर पूर्ण रूप से एक।

हेगेलीय भाषा मे पानी दो विरोधियो का, उद्जान और अम्लजान का एकत्व है। ये विरोधी तार्किक रूप से हैं—इस अर्थ मे कि एक वह है जो दूसरा नही है। ये विरोधी मिलते हैं और मिलकर जो चीज़ बनती है वह न उद्जान है और न अम्लजान। गुणात्मक रूप से दोनो का अन्तर्ध्यान हो गया है और बिलकुल नये गुणो के सयोग की सृष्टि हो गई है।

परिमाण तो उतना ही रहता है, लेकिन रूप परिवर्तित हो जाता है। पानी = अम्लजान + उद्जान। और यह समानता नही भी है। अधिक सही बात यह है कि पानी अम्लजान और उद्जान का एक नया सम्बन्ध है।

एक और उदाहरण दे देने पर विषय अधिक सुगमता-पूर्वक बोधगम्य हो जायगा।

हेगेल के जिस तर्क के कारण वह दुर्बोध्य समभा जाता है वह है— "अस्तित्व और नास्तित्व एक है।" हेगेल के कथनानुसार तर्कशास्त्र तथा दूसरे विज्ञानो में अन्तर यही है कि इनको विधिवद्ध करने के लिए तर्कशास्त्र की आवश्यकता है लेकिन तर्कशास्त्र को विधिवद्ध करने के लिए दूसरा कोई शास्त्र आवश्यक नही है। तो इसका आरम्भ कैसे किया जाय ?

तर्कशास्त्र के अनुसार आरम्भ क्या है ? यह कुछ (अस्तित्व) नही है क्योकि यह आरम्भ-मात्र है। लेकिन इसी कारण से यह कुछ नही भी नही हो सकता। इस प्रकार आरम्भ न अस्तित्व है न नास्तित्व है। और साथ ही साथ यह दोनो ही है तथा एक का दूसरे में रूपान्तर है। सक्षेप मे यह होने की एक क्रिया है जिसमें अस्तित्व और नास्तित्व की साधारण बुनियाद है।

इस तर्क को वास्तविकता के रूप मे देखिए। राम है एक मनुष्य। मनुष्य एक श्रेणी (Category) है जिसमें सब मनुष्य सम्मिलित है। मैं राम का अरामो से प्रभेद करता हूँ उन चीज़ो को देखकर जो उसमें नही है, किन्तु दूसरो मे है। लेकिन इस प्रभेद का अर्थ यही है कि अपने विशिष्ट गुणो के अलावा वह और मनुष्यो के समान है। इस प्रकार तार्किक दृष्टि से 'राम' का पूरा ज्ञान हो जाता है जब उसकी कल्पना "विशिष्ट राम" तथा सर्वसाधारण अ-रामो (सब मनुष्यो) के एकत्व के रूप में की जाय।

यह सत्य एक सहज और महान् सत्य है। शुद्ध सत्ता—तार्किक सत् विशुद्ध होने ही के कारण (यानी व्यावहारिक वास्तव के अभाव के कारण) विशुद्ध असत् से अभिन्न है। विशेष गुणो के द्वारा ही एक वस्तु को दूसरी

से अलग किया जा सकता है और इस अलग करने का अर्थ ही है दो बातो का एक साथ कहना—भावात्मक रूप से कि यह वस्तु यह है और अभावात्मक रूप से कि यह वस्तु नही है। इस प्रकार विचार मे एक वस्तु को दूसरे से पृथक् करना हाँ और ना दोनो करना है और इसमे विरोध और पुर्नमिलन दोनो है। समरूपता और पार्थक्य दोनो का रहना आवश्यक है, नही तो एक को दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता।

यही तथ्य है सत् और असत् के एकत्व का। हेगेल की इस तार्किक प्रथा का रूप है वाद, (Thesis) प्रतिवाद, (Antithesis) और समन्वितवाद (Synthesis)। दूसरे शब्दो मे भाव, अभाव, तथा अभाव का अभाव या प्रतिपेध का प्रतिषेध। इस त्रिगुट सम्बन्ध की विशेषता यह है कि ये एक साथ विराजमान रहते है, एक के बाद दूसरे का आविर्भाव नही होता। जब मै कहता हूँ कि 'राम मनुष्य है' तो राम और अराम का विरोध तथा उनका साथ-साथ अस्तित्व इन सब की कल्पना एक साथ करता हूँ। यह सही है कि मेरे मन मे जो तर्क की क्रिया होती है उसमे मै इन दोनो के पृथक्करण का पहले एक सिरा फिर दूसरा सिरा और फिर दोनो का सम्बन्धित अस्तित्व देखता हूँ। लेकिन वास्तव मे इस त्रिगुट सम्बन्ध का अस्तित्व आरम्भ से ही है और तर्क-क्रिया इस अस्तित्व को मान लेती है। हेगेल ने लिखा है कि इस त्रिगुट क्रिया को हम चतुष्क्रिया के रूप मे भी देख सकते है। पहला है अविभाजित एक। दूसरा विभाजन (१) भावात्मक तथा (२) अभावात्मक। फिर विभाजित रूप मे उस एक की पुन स्थापना। जीवन-सघर्ष मे अवयव द्वारा परिवर्तनीयता और वशानुक्रमिकता के विरोधी ऐक्य का प्रदर्शन अवयव के विकास का मुख्य स्तम्भ है।

विरोधियो के एकक के नियम को हेगेल ने इस भाषा मे लिखा है।—'यह समझा जाता है कि भाव और अभाव का अन्तर अमिट है। लेकिन तह में ये दोनो चीजे एक है। कोई एक नाम दूसरे म परिवर्तित हो

सकता है। इस प्रकार जमा और उधार सम्पत्ति के दो विशेष प्रकार नही है। कर्ज़ लेनेवाले के लिए जो अभाव है, देनेवाले के लिए वह भाव है। पूरब का रास्ता पश्चिम का भी रास्ता है। भाव और अभाव एक दूसरे के ऊपर निर्भर हैं और परस्पर सम्बन्ध मे ही इनका रूप प्रकाशित है। चुम्बक पत्थर का उत्तरी ध्रुव बिना दक्षिणी ध्रुव के नही रह सकता। किसी चुम्बक को दो भागो मे काटने पर एक हिस्से में उत्तरी और दूसरे मे दक्षिणी ध्रुव नही रहता। इसी प्रकार बिजली की दो धारायें, धनात्मक और ऋणात्मक एक दूसरे से स्वतन्त्र नही होती।

प्रकृति के दृश्यगत घटनाओ के मूल मे है भूत की गति। इसका विरोध तो स्पष्ट है। यदि कोई पूछे कि कोई गतिशील पदार्थ किसी विशेष समय पर किसी स्थान पर है या नही, तो युबेरवेग के नियम के अनुसार आप इसका उत्तर नही दे सकते कि 'हाँ' 'हाँ' है और 'नही' है 'नही'। गतिशील पदार्थ एक बिन्दु पर है भी और नही भी है।

इसका विचार हम इसी सकेत से कर सकते हैं कि 'हाँ' 'नही' है और 'नही' 'हाँ'। गतिशील पदार्थ "विरोध के तर्क" की अकाट्य दलील है और जो इस तर्क को नही मानता, उसको ज़ेनो के साथ कहना पडेगा कि गति इन्द्रियो का भ्रम-मात्र है। जो ऐसा नही मानते उनसे पूछिये कि युबेरवेग के तर्कशास्त्र के बुनियादी नियम को मानकर गति का त्याग करेंगे अथवा गति को मान कर इस बुनियादी नियम का परिहार करेगे ?

पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृति की दृश्यगत घटनाओ की बुनियादी बात है भूत की गति। लेकिन गति एक विरोध है। इसका विचार द्वन्द्वमान के नियम से किया जाना चाहिए अर्थात् इस सकेत से कि 'हाँ' नही है और 'नही' है 'हाँ'। इसलिए यह मानना पडेगा कि दृश्यगत घटनाओ के सम्बन्ध मे हम 'विरोधी तर्क' के राज्य मे है। लेकिन गतिशील भूत के अणुओ के सयोग से वस्तुओ की सृष्टि होती है। यह सयोग कम या अधिक क्षणस्थायी होकर तिरोहित हो जाता है और दूसरे सयोग इसका स्थान ले लेते है। जो अनत है वह है भूत की गति। जब बाहरी

गति के कारण भूत के एक विशिष्ट सयोग का आविर्भाव होता है और गति ही के कारण जब तक इसका अन्तर्ध्यान नही होता, तब तक इसके अस्तित्व के प्रश्न को भावात्मक रूप से ही हल किया जा सकता है। यही कारण है कि यदि कोई बुध ग्रह को दिखाकर हम से पूछे कि इसका अस्तित्व है या नही, तो हम नि सकोच यह उत्तर देगे कि 'हाँ' है। इसका अर्थ यह है कि स्पष्ट वस्तुओ के सम्बन्ध मे हम युबेरवेग के ही नियम का अनुसरण करेगे। इस राज्य मे 'हाँ' 'हाँ' है और नही' 'नही' का ही सकेत लागू होता है।

लेकिन इस नियम का राज्य अवाध नही है। जब कोई वस्तु उत्पत्ति की अवस्था मे है तो उसका उत्तर देने मे कुछ सकोच होता है। जब हम किसी मनुष्य को देखते है जिसके सर के बाल काफी उड गये है तो हम कहते है कि वह गजा हो गया है। लेकिन सठीक उस मुहूर्त का निश्चय हम कैसे करें जब यह कहा जा सके कि वह गजा हो गया ?

किसी विशिष्ट प्रश्न का कि अमुक वस्तु का अमुक गुण है या नही, 'हाँ' या 'ना' मे ही उत्तर दिया जा सकता है। लेकिन जब कोई वस्तु परिवर्तन की स्थिति मे है, किसी विशेष गुण का उसमे सयोग या वियोग हो रहा हो, तब इसका उत्तर किस भाषा मे दिया जाय ? पूर्व सकेत से ही इसका उत्तर दिया जा सकता है—'हाँ' 'नही' है तथा 'नही' है 'हाँ' मे। युबेरवेग के नियम के अनुसार इसका उत्तर नही दिया जा सकता।

यह एतराज किया जा सकता है कि जिस गुण का वियोग हो रहा है उसका अभी अन्तर्ध्यान नही हुआ और जिस गुण का सयोग हो रहा है वह पहले से ही वर्तमान है, इसलिए 'हाँ' या 'ना' मे इसका उत्तर असम्भव ही नही वल्कि वाध्यतामूलक है, चाहे वह वस्तु परिवर्तन की ही क्रिया मे क्यो न हो। लेकिन यह एतराज़ गलत है। जिस युवक की ठोढी पर दाढी की रेख उग रही हो उसको दाढीवाला नही कहा जायगा, यद्यपि यह रेख धीरे-धीरे दाढी मे परिणत हो रही है। गुणात्मक परिवर्तन के

लिए परिमाण की एक सीमा तक पहुँचना आवश्यक है। जो इसको भूलता है वह वस्तुओ के गुणो के सम्बन्ध मे स्पष्ट राय नही दे सकता।

एफिसियस के प्राचीन दार्शनिक ने कहा था कि सभी चीजें परिवर्तन-शील है, सभी परिवर्तित हो रही है। जिन सयोगो को हम वस्तु नाम देते है वे सदा ही परिवर्तन की स्थिति मे है। जब तक ऐसे सयोगो का अनुपात कायम रहता है उनका विचार हम हाँ हाँ और नही नही के सकेत से कर सकते है। लेकिन जिस समय उनमें ऐसा परिवर्तन होता है कि वह पहला अनुपात नही रहता तब उनका विचार विरोध के तर्क से ही हो सकता है। हमें हाँ और ना दोनो में उत्तर देना पडेगा—वह है भी और नही भी है।

जैसे स्थिरता गति का एक विशिष्ट प्रकार है उसी तरह साधारण तर्कशास्त्र द्वन्द्वमान तर्क का एक विशेष प्रकार है। प्लेटो के शिष्य क्रैटिलस के विषय मे कहा जाता है कि जब हेराक्लिटस ने कहा कि एक ही नदी मे हम दो बार प्रवेश नही कर सकते तो उसने कहा कि एक बार भी हम उसमे प्रवेश नही कर सकते क्योकि प्रवेश करते करते उसमे परिवर्तन होता रहता है, वह एक दूसरी नदी हो जाती है। ऐसी राय मे होने की क्रिया (Becoming) को उसके अस्तित्व से अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह द्वन्द्वमान का अपव्यवहार है। हेगेल का कहना है कि "कुछ" सर्वप्रथम "प्रतिषेध का प्रतिषेध" है।

यह पहले कहा जा चुका है कि गति कार्य का एक विरोधाभास है, इसलिए साधारण तर्कशास्त्र के बुनियादी नियम इसके लिए लागू नही है। लेकिन इसको कुछ विशद रूप से समझने की आवश्यकता है। जब एक प्रकार की गति दूसरे में परिवर्तित होती है, जैसे, उदाहरण के लिए यान्त्रिक गति का ताप में परिवर्तन—तो युबेरवेग का नियम इस क्षेत्र में लागू होगा। यह गति या तो यान्त्रिक है या ताप है—इत्यादि। इसका अर्थ यह है कि एक सीमित क्षेत्र में गति के लिए भी साधारण तर्कशास्त्र के नियम लागू है। लेकिन इससे यही सिद्ध होता है कि द्वन्द्वमान साधारण

तर्कशास्त्र को दबा नही देता केवल उसको वह सर्वमान्यता नही देता जो अतिभौतिकवादियो द्वारा उसको प्राप्त है।

पाठको ने अब देख लिया होगा कि द्वन्द्वमान और भौतिकवाद का आपस मे कोई विरोध नही है। वास्तव मे द्वन्द्वमान की बुनियाद ही भौतिकवाद है। यदि प्रकृति की भौतिकवादी धारणा का अन्त हो जाय तो साथ ही द्वन्द्वमान का भी अन्त हो जायगा।

हेगेल की प्रथा मे द्वन्द्वमान और अतिभौतिकवाद दोनो समानार्थ-सूचक है। मार्क्सीय दर्शन मे द्वन्द्वमान प्राकृतिक सिद्धान्त के सहारे खडा है।

हेगेल की प्रथा में वास्तव की जनक है पूर्ण की धारणा। भौतिक-वादी के लिए, पूर्ण की धारणा केवल एक पृथक्करण है, उस गति से, जिसके द्वारा सब सयोग तथा भूत की अवस्थाये उत्पन्न होती है।

हेगेल के अनुसार धारणाओ मे जो विरोध है उनके आविष्कार और हल से ही विचारधारा आगे बढती है। भौतिकवादी सिद्धान्त के अनुसार धारणाओ मे अवस्थित विरोध उन विरोधो के प्रतिबिम्ब मात्र है जो दृश्य-गत जगत् मे वर्तमान है और जिनका मूल कारण प्रकृति का अन्तर्विरोध यानी उसकी गति है।

हेगेल के अनुसार घटनाओ के विस्तार को समझने के लिए विचार के विस्तार को जानना चाहिए। भौतिकवाद के लिए विचारो के विस्तार का भेद है वस्तुओ का विकास।

अतिभौतिकवाद और द्वन्द्वमान—अतिभौतिकवादी विचार में प्रकृति वस्तुओ और दृश्यगत घटनाओ का एक आकस्मिक बटोर है जहाँ वे एक दूसरे से विच्छिन्न तथा स्वतन्त्र है। इसके विपरीत द्वन्द्वमान इन वस्तुओ और दृश्यगत घटनाओ को एक सूत्र मे बाँधता है जिसमे उनकी पारस्परिक निर्भरता प्रकाश पाती है।

इसलिए द्वन्द्वमान के अनुसार किसी प्राकृतिक घटना को स्वतन्त्ररूप से, अपने बहिरावेष्टन से अलग कर, नही समझा जा सकता। क्योकि ये

इन वहिरावेष्टनो से सम्वन्धित है और अपनी पारिपार्श्विक अवस्था द्वारा सीमित है।

अतिभौतिकवाद के विपरीत द्वन्द्वमान यह मानता है कि प्रकृति की अवस्था स्थिर और गतिहीन नही है, वल्कि अविराम गति और परिवर्तन की अवस्था है, अविराम नवीनता और विकास की अवस्था है जहाँ किसी न किसी चीज़ का उत्थान और विकास होता है और किसी न किसी चीज़ का ध्वस और निर्माण।

इसलिए द्वन्द्वमान के तरीके की यह माँग है कि दृश्यगत घटनाओ का विचार न केवल उनके पारस्परिक सम्वन्ध और उनकी पारस्परिक निर्भरता के दृष्टिकोण से होना चाहिए वल्कि उनकी गति, उनका परिवर्तन, विकास, आविर्भाव और अन्तर्ध्यान की दृष्टि से भी होना चाहिए।

द्वन्द्वमान का तरीका मुख्य रूप से उसको महत्त्व नही देता जो उस मुहूर्त्त मे स्थायी और दृढ मालूम होता हो, लेकिन जिसका अन्त होना आरम्भ हो गया हो, वल्कि उसको जिसका उत्थान और विकास हो रहा हो यद्यपि उस क्षण मे वह भगुर ही मालूम पड रहा हो, क्योकि द्वन्द्वमान उसी को अजेय मानता है जिसका उत्थान और विकास हो रहा हो।

एगेल्स के शब्दो में सारी प्रकृति, छोटी से छोटी से लेकर वडी से वडी चीज़, एक वालू के कण मे सूर्य तक, प्रोटिस्टा (प्राथमिक जीवित कोप) मे मनुष्य तक, लगातार आविर्भाव और तिरोधान की अवस्था मे है, सदा परिवर्तनशील है और परिवर्तन की अवस्था में है।

इसलिए एगेल्स का कहना है, द्वन्द्वमान वस्तुओ और उनके मानसिक प्रतिविम्वो को उनके पारस्परिक सम्वन्ध और सयोग मे, उनकी गति, उनके उत्थान और अन्तर्ध्यान मे देखता है।

अतिभौतिकवाद के विपरीत द्वन्द्वमान विकास की क्रिया को सामान्य वृद्धि के रूप मे, जहाँ परिमाण की वृद्धि और ह्रास से गुणो का परिवर्तन नही होता, नहीं देखता, वल्कि ऐसे विकास के रूप मे देखता है, जो नगण्य और अदृश्य परिवर्तन मे वुनियादी गुणो के परिवर्तन के रूप मे

परिणत होता है। इस विकास मे गुणात्मक परिवर्तन धीरे-धीरे नही होता बल्कि एकाएक और द्रुतगति से, जो एक अवस्था से दूसरी अवस्था में कुदान का रूप लेता है। यह आकस्मिक रूप से घटित नही होता बल्कि क्रम-वर्द्धमान परिमाणात्मक परिवर्तनो के सग्रह का परिणाम है।

द्वन्द्वमान के तरीके के लिए यह आवश्यक है कि इस विकास की क्रिया को हम चक्रगति के रूप मे न देखे, न इस रूप मे कि जो कुछ पहले घटित हो चुका है उसकी सामान्य पुनरावृत्ति हो रही है बल्कि एक अग्रगति और ऊर्द्धगति के रूप मे, एक गुणात्मक अवस्था से दूसरी नई गुणात्मक अवस्था मे परिवर्तन के रूप मे, साधारण से असाधारण, निम्न-स्तर से उच्चस्तर पर विकास के रूप मे।

एगेल्स के शब्दो मे प्रकृति द्वन्द्वमान का परीक्षास्थल है। यह मानना पडेगा कि आधुनिक प्रकृति-विज्ञान ने इसके प्रभूत उदाहरण दिये है जो प्रतिदिन बढते जा रहे है और इस प्रकार यह प्रमाणित कर दिया है कि अन्तिम विश्लेषण करने पर प्राकृतिक प्रक्रिया अतिभौतिक नही बल्कि द्वन्द्वात्मक है, यह कि अनन्तकाल से यह किसी चक्रगति मे नही घूमती बल्कि इसका एक इतिहास है। यहाँ डारविन का नाम सर्वप्रथम है जिसने यह प्रमाणित कर कि आज की सावयव दुनिया, उद्भिज और पशु और इस प्रकार मनुष्य भी कोटिश वर्षो की विकास-क्रिया का परिणाम है, प्रकृति की अतिभौतिक कल्पना पर प्रचण्ड आघात किया।

द्वन्द्वात्मक विकास का विवरण देते हुए कि यह परिमाणात्मक परिवर्तन की परिणति है एगेल्स कहता है :—

"भूतविज्ञान मे प्रत्येक परिवर्तन परिमाण का गुण मे परिवर्तन है। यह परिमाण किसी न किसी प्रकार की गति का परिमाण है जो या तो वस्तुविशेष में वर्तमान है या उसको दी जाती है। उदाहरणार्थ पानी के उत्ताप को एक सीमा तक बढाते हुए उसकी द्रवावस्था पर कोई प्रभाव नही पडता। लेकिन ज्यो ज्यो यह उत्ताप बढता या घटता है, एक क्षण आता है जब पानी की अवस्था मे परिवर्तन होता है और एक दशा

मे यह भाप बन जाता है, और दूसरी दशा मे बर्फ। किसी प्लेटिनम के तार को इतना गर्म करने के लिए कि वह चमक सके एक निश्चित परिमाण की बिजली आवश्यक है, हर खनिज पदार्थ के गलने का एक विशेष उत्ताप होता है। हर द्रव पदार्थ के ठोस और भाप बनने का एक विशेष उत्ताप होता है। हर वायवीय पदार्थ के लिए एक निश्चित विन्दु है जब उचित ठढक और दबाव के प्रयोग से उसको तरल पदार्थ में परिणत किया जा सकता है। पदार्थविज्ञान में जिनको स्थिरसज्ञक माना जाता है वे अधिकाश क्षेत्र में वही विन्दु है, जब गति की वृद्धि या ह्रास से वस्तु-विशेष मे गुणात्मक परिवर्तन होता है।" ऐसी स्थिर सज्ञा का उदाहरण है वह कोण जिस पर आलोक-रश्मि का पर.वर्तन (Refraction) होकर सीधा प्रतिफलन (Reflection)। होता है।

रसायनशास्त्र पर विचार करते हुए एगेल्स आगे चल कर कहता है —

"रसायनशास्त्र के विज्ञान का सार यह है कि वस्तुओ में परिमाणात्मक परिवर्तन के फल-स्वरूप उसके गुणो मे परिवर्तन होता है, हेगेल को इसका ज्ञान था। अम्लजान को लीजिए। यदि इसके अणु मे, दो न होकर तीन परमाणु हो, तो यह ओजोन बन जाता है, जिसका गुण साधारण अम्लजान से भिन्न है।"

अतिभौतिकवाद के विरुद्ध द्वन्द्वमान यह समझता है कि सब वस्तुओ में तथा दृश्यगत घटनाओ में अन्तर्विरोध वर्तमान है, क्योकि इनके एक भावात्मक और अभावात्मक कोण है, एक भूत तथा भविष्य है, इनमे कुछ है जिसका विकास हो रहा है। परिमाणात्मक परिवर्तनो की गुणात्मक परिवर्तनो में परिणति तथा विकास-क्रिया की भीतरी बात है इन विरोधियो का सघर्ष, पुराने और नये में, जिसका विनाश हो रहा है और जिसका जन्म हो रहा है उसमे, जो अदृश्य हो रहा है तथा जिसका विकास हो रहा है, उसमे।

द्वन्द्वमान के अनुसार निम्नस्तर से ऊँचे स्तर पर विकास को हम साधारण पट-परिवर्तन के रूप मे नही देखते बल्कि वस्तुओ और दृश्यगत

घटनाओं मे वर्तमान विरोध के रूप मे तथा इन विरोधो की बुनियाद पर कायम दो विपरीत गतियो के सघर्ष के रूप मे । लेनिन के शब्दों मे द्वन्द्वमान वस्तुओ की सत्ता के आन्तरिक विरोध का अध्ययन है। लेनिन ही के शब्दो मे विकास विरोधों के सघर्ष का नाम है।

द्वन्द्वमान तथा साधारण तर्कशास्त्र—द्वन्द्वमान प्रतिदिन के साधारण तर्कशास्त्र का स्थानापन्न नही हो सकता जिस प्रकार बीजगणित या सख्या-णुगणित अकगणित का स्थान नही ले सकते। जिस प्रकार अकगणित की सीमा के बाहर की समस्याओ को हल करने के लिए गणित की उच्च शाखाओ का प्रयोग किया जाता है—उदाहरणार्थ उन समस्याओ का जिनमे अज्ञात और परिवर्तनीय परिमाण या सख्या और उनके सम्बन्धों का विचार होता है—उसी प्रकार द्वन्द्वमान गतिशील सम्बन्धो और क्रियाओ का साधारण तर्कशास्त्र के दायरे मे लाने का साधन है, क्योकि साधारण तर्कशास्त्र केवल स्थिर सम्बन्धो को लेकर चलता है। द्वन्द्वमान उसी को लेकर कार्यारम्भ करता है जिसको अपने दायरे के बाहर रख छोडने के लिए साधारण तर्कशास्त्र मजबूर है—वह यह कि किसी वस्तु को अपने ही द्वारा समझा नही जा सकता। इसको यो ही समझा जा सकता है कि यह और किसी वस्तु से आया, और किसी अन्य वस्तु की ओर यह जा रहा है और इसकी गति का कारण है इसके और इसके बहिरा-वेष्टन के बीच का एक क्रियाशील सम्बन्ध। इसलिए द्वन्द्वमान प्रत्येक वस्तु को अन्य वस्तुओ के बीच पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप गति का मूर्तरूप ही समझता है। गत्युत्पादक विपरीतानुवर्तन, विरोध और सघर्ष (जो परिवर्तन और विकास का भी जनक है) के बिना द्वन्द्वमान असम्भव हो जाता। गति और उसके रूपान्तरण के अध्ययन के लिए द्वन्द्वमान अत्यावश्यक है। लेकिन जहाँ रूप, सार और सम्बन्ध का विकार तुलनात्मक रूप से नही होता वहाँ साधारण तर्कशास्त्र का प्रयोग ही सिद्ध है।

यान्त्रिक और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—पहले ही कहा जा चुका है

कि अठारहवी शताब्दी का भौतिकवाद और हेगेल का द्वन्द्वमान दोनो मार्क्सवाद की बुनियाद है। लेकिन हेगेल का द्वन्द्वमान आदर्शवादी है और अठारहवी शताब्दी का भौतिकवाद यान्त्रिक भौतिकवाद है। आदर्शवाद और भौतिकवाद का प्रभेद पहले ही दिया जा चुका है। यान्त्रिक और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मुख्य प्रभेद दो है —

(१) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मनुष्य के वास्तविक भौतिक अस्तित्व के स्थूल सत्य को लेकर चलता है। यह उस अतिभौतिकवादी तरीको का तिरस्कार करता है जो विश्वससार के विषय मे एक कल्पित मत का प्रचार करना चाहता है। जैसे यह एक है या अनेक, यह युक्त है या विच्छिन्न इत्यादि।

(२) इस वात पर जोर देते हुए कि प्रत्यक्षीकरण और प्रत्यक्षीभूत कल्पना का रूप प्रतिविम्व का रूप है (वाहरी दुनिया का), द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस ओर भी दृष्टि आकर्षित करता है कि यह मानसिक क्रिया क्रियाशील है, यह निष्क्रिय प्रतिविम्व-मात्र नही है। इसके अनुसार विचार, भूत जिसका वास्तविक अस्तित्व है, जो क्रियाशील और इसलिए विकासमान है, की सम्वन्धित सम्पूर्णता, और जीवित मनुष्य के बीच व्यावहारिक सम्वन्ध का परिणाम है। यान्त्रिक भौतिकवाद विश्व को मशीन की तरह एक प्रणालीवद्ध रूप मे देखता है जव कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसको एक असीम सृजनात्मक क्रिया के रूप मे देखता है।

मनुष्य के मानसिक तथा वाहरी वस्तुओ के सयोग-जनित, व्यवहार ने यह सिद्ध किया कि जिस दिशा मे प्राचीन भौतिकवादी सत्य को खोजना चाहते थे वह वहाँ नही है, उसको खोजने के लिए दूसरी दिशा को जाना पडेगा। मनुष्य का विचार जिस सत्य को पहुँच सकता है वह अनन्तकाल के लिए सम्पूर्ण सत्य नही है, जिसका अस्तित्व ऐसे पुरुष के लिए है जो मनुष्य के राग-द्वेष और ससीमता से मुक्त हो। जिस सत्य को मनुष्य पहुँच सकता है वह उन सम्वन्धो, जिनके अन्दर मनुष्य जीता है, चलता-फिरता है और रहता है, का एक विकाममान समन्वय है। यह

आपेक्षिक सत्य है, क्योकि यह कुछ पारस्परिक सम्बन्धो तथा क्रिया प्रति-क्रियाओ का रूप है, जिनको हम उन सम्बन्धो के अन्दर से ही देखते है। पुन परिमाण की दृष्टि से भी यह आपेक्षिक है, क्योकि इसमे सदा वृद्धि होती रहती है और अधिकतर वृद्धि-प्राप्ति करने की इसमे शक्ति है। लेकिन गुणात्मक दृष्टि से और तुलनात्मक रूप मे यह सत्य पूर्ण भी है। यद्यपि यह पूर्ण सत्य नही तथापि जहाँ तक यह प्रयोग-सिद्ध है वहाँ तक यह सत्य ही है।

सिद्धान्त और प्रयोग, पूर्णता और आपेक्षिकता, पुरानी अवस्था का जारी रहना और परिवर्तित होना, कायमी अवस्था और वृद्धि, इन विरोधियो के एकत्व मे ही कैंट के पूर्व यान्त्रिक भौतिकवाद तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभेद है।

एगेल्स के शब्दो मे —

"पिछली सदी मे भौतिकवाद का रूप यान्त्रिक होने का कारण यह था कि उस समय प्रकृति-विज्ञान की शाखाओ मे यन्त्र-विज्ञान का ही काफी विस्तार हो चुका था। देकार्ते के लिए पशु जैसे एक मशीन था, अठारहवी सदी के भौतिकवाद के लिए मनुष्य भी वैसे ही था। उस समय के फ्रासीसी भौतिकवाद की यह सकीर्णता थी कि वह हर प्रक्रिया के सम्बन्ध में यन्त्रवाद का प्रयोग करता था, चाहे वह रसायनशास्त्र हो, चाहे जीव प्रकृति—जिसके सम्बन्ध में यान्त्रिक सिद्धान्त लागू है सही लेकिन जिनका नियन्त्रण और उच्चकोटि के नियमो द्वारा होता है। उसकी दूसरी सकीर्णता यह है कि वह विश्वससार को सक्रिय रूप मे—भूत के ऐतिहासिक विकास के रूप मे नही देखता। प्रकृति की अविराम गति का ज्ञान तो लोगो को था, लेकिन उस समय के विचार के अनुसार यह गति अनन्त काल से एक चक्र के आकार मे है और उन्ही परिणामो का बारबार आविर्भाव होता रहता है। यान्त्रिकवाद एक यन्त्र-चालक का अनुमान करता है और इस प्रकार ईश्वर और अतिप्राकृतिकवाद की

पुन सृष्टि करता है। वास्तविक परिवर्तन की व्याख्या यह नही कर सकता। वास्तविक परिवर्तन का कारण है वस्तु की स्वयगति।

द्वन्द्वमान के सक्षिप्त सूत्र--लेनिन--हेगेल के तर्कशास्त्र के ऊपर लेनिन ने १६ सूत्रो का विस्तार किया है जिनके अध्ययन से द्वन्द्वमान को समझने मे बहुत सहायता मिलती है। लेनिन के शब्दो में द्वन्द्वमान का सक्षिप्त विवरण है विरोधियो का एकत्व। एक प्रकार से ये सोलहो सूत्र इसी के विशद विस्तार हैं।

मनन-क्रिया का आरम्भ होता है, विश्व-प्रक्रिया से उसके कुछ विशिष्ट गुणो को अलग करके उनके अलग रूप को ही ध्यान मे लाकर। वस्तु (कर्म) को लेकर ही मनन क्रिया का आरम्भ है। इसलिए द्वन्द्वात्मक मनन-क्रिया के लिए पहले आवश्यक है वस्तुओ को ज्यो की त्यो उनके अलग रूप मे देखना। यही लेनिन का पहला सूत्र है--वस्तु निरीक्षण।

लेकिन वस्तु-तत्त्व के तोडने के पहले कदम को पूरा करना पडता है दूसरे कदम से इस द्वन्द्वमान का पुनर्निर्माण करके। "यदि विश्वससार एक परिवर्तनशील प्रक्रिया है जिसके अग परस्पर सम्बन्धित है तो हम इनकी पहचान यो करते है कि मस्तिष्क में इन आशिक क्रियाओ को, यथा, समाज, उत्पादन के साधन, परिवर्तनशील वस्तु, शब्द को अलग कर लेते हैं। इनका हम नाम देते है पृथकित (Isolates)। यह पृथकित, पारिपार्श्विक अवस्था (बहिरावेष्टन) यथा, स्थान, काल, भूत से अलग कर लिया गया है। इसलिए स्वय पृथकित एक कल्पना-मात्र है, क्योकि द्वन्द्वात्मक दृष्टि से पारिपार्श्विक अवस्था से मुक्त कोई वस्तु रह नही सकती। लेकिन यह कल्पना भी वास्तविक ही है, इसलिए कि वस्तुराज्य में इसका अस्तित्व है। द्वन्द्वमान के अध्ययन का पहला कदम है इन पृथकितो का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करना और फिर इनको अपनी पारिपार्श्विक अवस्था से सयुक्तकर द्वन्द्वमान का पुनर्निर्माण करना।" (लेवी)

इसी प्रकार हम अतिभौतिकवादी अलाहिदापने और एकतरफापने

के ऊपर उठ सकते है और दुनिया को एक अन्त सम्बन्धित गति के रूप में देख सकते है। यही लेनिन का दूसरा सूत्र है—हमें प्रत्येक वस्तु के दूसरे वस्तुओ से सम्बन्धो की विचित्रता और परिपूर्णता का विचार करना चाहिए।

प्रत्येक वस्तु विराट् विश्व-प्रक्रिया का एक अग है। इसकी प्रकृति को इसकी रूपान्तरित अवस्था से अलग करके नही समझा जा सकता है। यही लेनिन का तीसरा सूत्र है—हमें वस्तु या दृश्यगत घटनाओ के विकास, इसकी अपनी गति, इसके अपने जीवन आदि का विचार करना चाहिए।

लेकिन यह विकास ऐसा नही है जो मनमानी ढग से, बिना किसी कारण के, रहस्यमय रूप मे होता हो। विकास सदा बाहरी सम्बन्ध तथा आन्तरिक सघर्षो का ही परिणाम है। यह उसी हद तक समझाया जा सकता है तथा बुद्धि-द्वारा ग्रहण किया जा सकता है जहाँ तक हमने इसके आन्तरिक सम्बन्धो की जॉच की है। यही लेनिन का चौथा सूत्र है। हमे वस्तु की अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियो और दिशाओं की खोज करनी चाहिए।

पाँचवा सूत्र—हमे वस्तु को विरोधियो के एकत्व तथा योगफल के रूप में देखना चाहिए।

छठा सूत्र—इन विरोधियो के पट-विस्तार तथा सघर्ष को हमें देखना चाहिए।

सातवाँ सूत्र—वस्तु के विश्लेषण तथा समन्वय का एकीकरण।

आठवाँ सूत्र—प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध न केवल बहुविध है बल्कि सार्वभौमिक है। प्रत्येक वस्तु प्रत्येक अन्य वस्तु से सम्बन्धित है।

नवाँ-सूत्र—न केवल विपरीतो का एकत्व बल्कि प्रत्येक गुण का उसके विपरीत मे रूपान्तरित होना।

दसवाँ सूत्र—नये पार्श्वों और सम्बन्धो के दृश्यगत होने की असीम क्रिया।

ग्यारहवाँ सूत्र—मनुष्य-द्वारा वस्तु, दृश्य, क्रिया इत्यादि के ज्ञान को

गहराई मे ले जाने की तथा वाह्यावरण से तत्त्व पर और कम गहराई के तत्त्व से अधिक गहराई के तत्त्व पर पहुँचने की असीम क्रिया।

बारहवाँ सूत्र —सह-अस्तित्व से कार्य-कारण के सम्बन्ध को पहुँचना। एक प्रकार के सम्बन्ध और पारस्परिक निर्भरता से अधिक गहरा तथा अधिक व्यापक सम्बन्ध तथा पारस्परिक निर्भरता की ओर जाना।

तेरहवाँ सूत्र —निम्न स्तर से ऊँचे स्तर पर विकास की क्रिया मे कुछ गुणो की पुनरावृत्ति।

चौदहवाँ सूत्र —प्रतीयमान रूप मे पुराने रूप पर लौट जाना (प्रतिषेध क प्रतिषेध)।

पन्द्रहवाँ सूत्र —रूप और सार, आकार और आकार के अन्दर अवस्थित तत्त्व का सघर्प तथा इसका विपरीत।

सोलहवाँ सूत्र —परिमाण का गुण मे परिवर्तन तथा इसका विपरीत।

व्याख्या और उदाहरण—जीवन का उदाहरण प्रकृति के द्वन्द्वात्मक रूप पर स्पष्ट प्रकाश डालता है। अवयव के तथा कोष के जीवन मे जीवन और मृत्यु, आविर्भाव और तिरोभाव, अतर्ग्रहण तथा बहिर्मोचन (भूत और शक्ति का) ये पास पास ही मिलते है तथा परस्पर सश्लिष्ट रहते हैं।

पूंजीवाद में अन्तर्विरोध—(१) प्रत्येक भिन्न फैक्टरी मे उत्पादन का सुचारु सगठन और सामाजिक उत्पादन क्षेत्र में अराजकता।

(२) एक ओर मशीन की उन्नति और उत्पादन का विस्तार प्रत्येक पूँजीवादी के लिए वाध्यतामूलक नियम है, दूसरी ओर उद्योग की रिजर्व सेना में वृद्धि और सामयिक सकट का बार बार होना। यहाँ उत्पादन के सम्बन्ध पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धो के विरुद्ध विद्रोह करते है।

(३) सपूण पूँजीवादी प्रथा मे एक ओर पूँजी ही सम्पत्ति है और दूसरी ओर उद्योग मे पूँजी का प्रयोग किया जाता है यानी एक ओर फिनान्स (बक) पूँजी है और दूसरी ओर औद्योगिक पूँजी है। इस प्रभेद का प्रदर्शन है सूदजीवी जिसकी जीविका है पूँजी पर सूद और दूसरे

जो अपनी जीविका पूँजी के व्यावहारिक प्रयोग से अर्जन करते हैं। (लेनिन)

हर प्रथा या क्रिया के आन्तरिक विरोधो के रूप और गुण भिन्न होते है।

सर्वहारा के अधिनायकत्व में राष्ट्र का लोप भी विरोध का उदाहरण है। सर्वहारा का अधिनायकत्व राष्ट्र का तीव्रतम रूप है, लेकिन यही वर्ग-सघर्ष के अन्त का कारण बन जाता है और इस प्रकार राष्ट्र का लोप होता है।

आपेक्षिक और पूर्ण सत्य भी विरोध का उदाहरण है। इसका विस्तार आग चलकर किया जायगा।

विशिष्ट और व्यापक के सम्बन्ध मे अन्त प्रवेश भी विरोध का एक उदाहरण है। व्यापक (साधारण) के सम्बन्ध से विच्छिन्न होकर विशिष्ट का कोई अस्तित्व नही है, और विशिष्टो से ही व्यापक का अस्तित्व है। प्रत्येक व्यापक रूप केवल करीब करीब ही सब विशिष्ट वस्तुओ क. अपनी व्यापकता में ला मकता है; और प्रत्येक विशिष्ट वस्तु कुछ न कुछ व्यापक रूप ग्रहण करती है।

अन्तर्विरोध पर बुखारिन—"एक दूसरे के विरुद्ध भिन्न कार्यकारी शक्तियाँ पृथ्वी में वर्त्तमान है। व्यतिक्रम के रूप मे इन शक्तियो का समीकरण होता है। तब विराम की स्थिति होती है, यानी उनके वास्तविक विरोध पर एक आवरण पड जाता है। लेकिन किसी एक शक्ति मे तनिकमात्र परिवर्तन करने ही से अन्तर्विरोधो का पुनराभास होता है और उस समीकरण का अन्त होता है और यदि एक नये समीकरण की सृष्टि होती है तो यह एक नये, अ धार पर, यानी शक्तियो के एक नये सयोग से ही होती है।"

बुखारिन के अनुसार अन्तर्विरोध बाहरी विरोधो का परिणाम है। इसलिए उनके अनुसार मूल विरोध वाहरी है। इस प्रकार अन्तर्विरोध के कारण स्वयगति के तथ्य का यह निषेध करता है। इसी तरह, बुखारिन

के अनुसार समाज के अन्तर्गत श्रेणी सघर्ष का निराकरण होता है समाज और प्रकृति मे विरोध के द्वारा।

मार्क्सीय द्वन्द्वन्याय इस विरोध को भुला नही देता, लेकिन सामाजिक विकास में इस विरोध को मुख्य स्थान नही देता। इतिहास के अध्ययन से हम यह पाते है कि यद्यपि भिन्न देशो मे भूगोल, जलवायु, उद्भिज, जगम और प्राकृतिक सम्पद मे परिवर्तन नही के बराबर हुआ तथापि वहाँ के सामाजिक सम्बन्धो मे महान् परिवर्तन हो गये, जैसे सामन्त प्रथा के स्थान पर पूंजीवाद की स्थापना।

पूंजीवाद मे समाज और प्रकृति का विरोध तो विद्यमान रहता है, लेकिन इस विरोध के विशिष्ट रूप का निराकरण होता है, भौगोलिक परिवेष्टन के गुणो द्वारा नही, बल्कि पूंजीवाद के विकास के मूल नियमो के द्वारा। समाज अपने आन्तरिक नियमो से और अपनी उत्पादक शक्तियो के विकास से हर विशेष सामाजिक सगठनो के विशेष साधनो द्वारा अपने भौगोलिक परिवेष्टन मे परिवर्तन करता है। जगलो की कमी हो गई है—पेडो के लगाने और गिराने पर नियन्त्रण रक्खा जाता है। कोयला काफी नहीं है—पेट्रोलियम उसके स्थान पर इस्तेमाल किया जाता है। चमडा, रेशम, ऊन की कमी है,—कृत्रिम उपायो से ये बनाये जाते है। हवा मे नमी की कमी है—आबपाशी से काम लिया जाता है। पशु और वनस्पति-जगत् मे नवरूप प्राप्त होते है, क्योकि इनके नये किस्म की सृष्टि होती रहती है।

यदि इतना होते हुए भी पूंजीवादी समाज मे प्राकृतिक परिवर्तन इतना सीमित है इसका कारण प्रकृति और समाज के विरोध में नही मिलेगा, बल्कि पूंजीवादी उत्पादक सम्बन्धो में मिलेगा जो उत्पादक शक्तियो का पूरा पूरा विकास नही होने देता। समाजवाद मे ही यह सम्भव-पर है।

गुण-परिवर्तन—किसी वस्तु की मूल गति ही उसके गुण का निर्देश करती है। भूत अपनी गति मे ही असख्य गुणो की सृष्टि करती है।

मनुष्य, सामान्य जीवनकोष, जड़ पदार्थ, सभी एक ही भौतिक विकास की चढती सीढी के कदम है और ये कदम भिन्न गुण सम्पन्न है ।

प्रत्येक गति मे यान्त्रिक गति सम्मिलित है और इसके कारण भूत-कणो की सजावट मे भिन्नता आ जाती है। इन यान्त्रिक गतियो को समझना विज्ञान का पहला काम है, लेकिन यह केवल पहला ही कदम है। 'यान्त्रिक गति' से 'व्यापक गति' का अन्त नही हो जाता। गति केवल स्थान-परिवर्तन-मात्र नही है—यन्त्र-राज्य से ऊपर यह गुण का भी परिवर्तन है।

यान्त्रिक गति हर उच्च प्रकार की गति का एक आवश्यक अग है, यद्यपि यह गति के और गुणो की भी सृष्टि करती है। रासायनिक क्रिया के साथ उत्ताप और वैद्युतिक परिवर्तन का निरन्तर सयोग है। सावयव जीवन बिना यान्त्रिक, कणिक, रासायनिक, उत्ताप और बिजली सम्बन्धी परिवर्तनो के असम्भव है। लेकिन प्रत्येक क्षेत्र मे इन सम-वर्तमान (Collateral) रूपो से मूल रूप के तत्त्व का भण्डार चुक नही जाता।

इसमे कोई सदेह नही कि विशिष्ट गुण-सम्पन्न भूत की नई अवस्था का आविष्कार गति के एक नये प्रकार का आविष्कार होगा।

परिमाण की वृद्धि से वस्तु-विशेष का गुण अपने विपरीत मे परिवर्तित हो जाता है। जैसे—

"निर्विरोध प्रतियोगिता पूँजीवाद का और साधारणत पण्य उत्पादन का मौलिक गुण है। एकाधिकार इसका ठीक उल्टा है। लेकिन हम अपनी आँख के सामने प्रतियोगिता को एकाधिकार मे रूपान्तरित होते देख रहे है जिससे बडे पैमाने पर उत्पादन की सृष्टि होकर छोटी फैक्टरियाँ दबती जा रही है, और उत्पादन बडे से और अधिक बडे पैमाने पर होकर अत मे पूँजी और उत्पादन का इस प्रकार एकत्रीकरण हो जाता है कि इसका परिणाम एकाधिकार हो जाता है।" (साम्राज्यवाद—लेनिन।)

गुण से परिमाण के परिवर्तन का साधारण उदाहरण है अच्छा बीज,

जिसके बोने से उपज का परिमाण बहुत बढ जाता है। इसी तरह रूस की सामूहिक खेती इसका दूसरा उदाहरण है जिसके कारण भी उपज का परिमाण बहुत बढ़ जाता है।

गुण-परिवर्तन पर लेवी—लेवी ने गुण-परिवर्तन के सम्बन्ध में वस्तुओ को दो श्रेणियो में विभक्त किया है – कणिक (Atomic) तथा सामूहिक (Statistical) और गुण परिवर्तन को चार श्रेणियों में विभक्त किया है —

(१) कणिक से कणिक,
(२) सामूहिक से सामूहिक,
(३) कणिक से सामूहिक और
(४) सामूहिक से कणिक।

उदाहरण —(१) (क) मनुष्य—बाल्यावस्था से वृद्धावस्था।
(ख) खनिज पदार्थ—प्राकृतिक अवस्था से व्यवहारिक वस्तु के रूप में।
(ग) जमीन का टुकडा जिसका व्यावहारिक मूल्य सामाजिक विकास के कारण बढ गया हो।
(२) आस्ट्रेलिया में भेजा गया खरगोश का पहला जोडा जहाँ अब उनका ढेर एक उत्पात् बन गया है।
(३) एक धूप का दिन—बहुत से धूप के दिन—सूखा।
(४) इसमें सभी वे उदाहरण हैं जिनमें समूह टूट कर अलग अलग हो जाती है, जैसे एक परिवार का टूटना।

परिवर्तन की कल्पना के लिए ये उदाहरण सहायक हैं लेकिन यह ध्यान रहे कि ये सभी उदाहरण द्वन्द्वात्मक परिवर्तन के उदाहरण नही हैं।

इसी प्रकार लेवी ने उद्भिज राज्य के दो उदाहरण दिये है।

(१) जगल में सोतो के पास एक प्रकार की काई जमती है (Sphagnum moss) जो धीरे धीरे जगल को उजाड़ देती है।

(२) एक झील है। उसकी तह पर उद्भिज सडते रहते है। तह ऊपर को उठती है और उसकी सतह पर लता तैरने लगती है। झील दलदल बन जाती है। लताओ की जडे जम कर धीरे धीरे घास का मैदान बन जाती है। हवा के झोको से बीज उड कर लगने से पेड़-पौधे जम जाते है, फिर एक जगल बन जाता है।

ज्ञान का मूल

ज्ञान क्या है ? ज्ञान की परिभाषा है—जो परिभाषा से अधिक वर्णन है—ज्ञान सम्बन्धो की चेतना है—वस्तु-विषयक तथा आत्मविषयक; जीवधारी मनुष्य के रूप हम और बाहरी दुनिया के सम्बन्धो की चेतना; बाहरी दुनिया मे व्यापक और विशिष्ट तफसीलो के बीच का सम्बन्ध; और द्रष्टीभूत वस्तु तथा उसकी कल्पना के बीच का सम्बन्ध जिसमें और जिसके द्वारा हम अस्तित्व का अनुभव करते है—अपना अस्तित्व और बाहरी दुनिया का भी अस्तित्व। हम द्रष्टीभूत वस्तुअ. और उनकी कल्पनाओ में ही अपने और बाहरी दुनिया के बीच समत. और प्रभेद दोनो का एक साथ अनुभव करते है। प्राकृतिक वास्तविकता की बाहरी दुनिया और मनन क्रिया की भीतरी दुनिया में विविध प्रकार और परिमाण की समता और प्रभेद को मानस चित्र मे चित्रित कर सकना और इन सब को सम-अस्तित्व (Co-existence) और अनुवर्तन (Succession), क्रिया, प्रतिक्रिया, परस्पर क्रिया और कार्यकारण निर्भरता के उचित सम्बन्धो मे सजाने और व्यवस्थित करने का नाम ही जानना है।

सम्बन्ध की चेतना ही ज्ञान है—विशेपकर वस्तु-जगत् के अस्तित्वो के बीच का, तथा आत्मानुभूत (दृष्टिगत वस्तु, कल्पनायें आदि) अस्तित्वो

के वीच का सम्वन्ध तथा इन दोनो जगतो के वीच के सम्वन्ध की चेतना ही ज्ञान है।

एक और दृष्टिकोण से —व्यावहारिक अर्थ मे—विचार वस्तु-जगत् को ठीक ठीक प्रतिफलित और प्रतिविम्वित करता है, इसकी निश्चयता ही ज्ञान है।

भौतिकवाद ने प्रकृति को क्रिय शील रूप मे माना और विचार को अक्रिय रूप मे जिसका केवलमात्र काम था इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओ को ग्रहण करना तथा उस पर मन्थन करना। यह कैंट और कैंट पश्चात् आदर्शवादी थे जिन्होने मननशक्ति की रचनात्मक क्रिया पर ज़ोर दिया, लेकिन इतना अधिक ज़ोर दिया कि उसको वेहिसाव वढा-चढ़ा दिया।

अँगरेज़ी और फ्रासीसी भौतिकवाद ने इस मूल स्वीकृति से आरम्भ किया कि विचार की वस्तु (विचार क्रिया का कर्म) का अस्तित्व विचार-कर्ता के अस्तित्व से पहले है और विचारकर्ता इसकी अनुभूति प्राप्त करता है। लेकिन वह इससे आगे न वढ सके।

टमास् हॅाब्स् ने इस मत को इन शब्दो मे रक्खा है। "मनुष्य के विचार के सम्बन्ध मे । अलग-अलग रूप मे इनमे से प्रत्येक वस्तु, हमारे शरीर और मन के वाहर किसी वस्तु के किसी गुण का प्रतीक या प्रतिनिधि है, जो वस्तु कि मनुष्य की इन्द्रियो पर अपनी क्रिया की विचित्रता से विविध दृश्यो की सृष्टि करती है।" (लिव.ययन)

यह प्रश्न भौतिकवादियो के सामने इस रूप मे था कि इस ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियग्राह्य रूपो के मूल उद्गम स्थान से होकर एक विशेष शक्ति 'प्रज्ञा' द्वारा होती है, लेकिन यह विशेष शक्ति क्या है, यही एक झगडे का विषय हो गया। आदर्शवादी इस मत का पोषण करते थे कि यह 'प्रज्ञा' धर्म-पण्डितो की आत्मा ही है जो एक अति प्राकृतिक शक्ति है, जो इन्द्रियानुभूत मायावी रूपो को परम और अनन्त सत्य मे परिणत

करती है। भौतिकवादी इस मत के लिए झगडते रहे कि यह 'प्रज्ञा' कितनी ही रहस्यमय हो फिर भी यह प्राकृतिक ही है।

प्रसिद्ध लेखक आनातोल फ्रास ने परिस्थिति को इस तरह चित्रित किया है —

"मठ की दीवार के नीचे जहाँ छोटे बच्चे अपना खेल खेल रहे थे हमारे साधू मित्र वहाँ एक और खेल खेल रहे थे जो उतना ही व्यर्थ था, लेकिन मैं वहाँ जा मिला क्योकि समय बिताना ही चाहिए।

"हमारा खेल शब्दो का खेल था जो हमारे कूढमगज लेकिन सूक्ष्म दिमाग़ के लिए सुखकर था, एक विचार-शैली को दूसरा विचार-शैली के विरुद्ध उभाडनेवाला था। और उसने सारे ईसाई समाज मे हलचल मचा दी। हम दो विरोधी दलो मे बँट गये। एक दल का कहना था कि 'सेवो (फल) के पहले सेव जाति थी, केलो के पहले 'केला' जाति थ , भ्रष्ट-चरित्र और लालची साधुओ के पहले 'साधु' जाति, लालच तथा भ्रष्ट-चरित्रता थ', पीठ पर लात जमाने के लिए लात और पीट से पहले पीठ पर जमनेवाला लात सदा से ईश्वर के अन्तस्थल मे विद्यमान था।

दूसरे दल ने उत्तर दिया कि नही, सेवो से ही सेव जाति की धारणा होती है, केलो से ही केला जाति का अस्तित्व है, साधुओ से ही साधु जाति, लालच तथा भ्रष्ट चरित्रता की उत्पत्ति है और लात जमाने और खाने के बाद ही पीठ पर लात का कोई अर्थ होता है। खिलाडी गरम हो गये और घूंसा चलने लगा। मैं दूसरे दल का पृष्ठपोषक था क्योकि उसका मत मेरे लिए बुद्धिग्राह्य था और सोआसो की बैठक ने इस मत को अग्राह्य बनाया (Revolt of the Angels)।

प्रज्ञावादी दृष्टिकोण से वैज्ञानिक ज्ञान का चिह्न है, इसके प्रति-पाद्यो की व्यापकता और अवश्यम्भाविता। व्यापकता का अर्थ है कि सिद्धान्त का प्रयोग बिना व्यतिक्रम के हमारे सब अनुभवो पर हो सके और अवश्यम्भाविता का अर्थ है कि सब मनुष्यो की बुद्धि ऐसे सत्य को ग्रहण करने के लिए उनको बाध्य करे।

लेकिन प्रज्ञावादी को कार्यकारण सम्बन्धो का एक सूत्रबद्ध सिलसिला कहाँ से मिल जाता है, जो उनके अनुसार वस्तुओ के भ्रमपूर्ण चित्रों के मूल में है ।

इन विचारो के स्पष्ट और स्वयसिद्ध तथा तर्कसगत होने ही से ऐसा क्यो अनुमान किया जाय कि ये वाहरी दुनिया की सच्ची तस्वीरें है ?

लेनिन के शब्दो में इस रहस्य का उद्‌घाटन हो जाता है। "करोडों वार दुहराने से मनुष्य के अभ्यास और अनुभव चेतना में तर्कसकेत का रूप धारण कर लेते है।" तथाकथित तर्कसगत विचार के सार्वभौम रूपो का ऐतिहासिक आधार यही है।

कैंट इससे सहमत है कि हमारा ज्ञान अनुभव से आरम्भ होता है और इस अनुभव की प्रारम्भिक वात है वाहरी वस्तुओ का अस्तित्व। वह केवल इस वात से इन्कार करता है कि यही इसका अन्त होता है, क्योकि हमे ऐसी चीजो का ज्ञान है जो अनुभव से परे है। वह इसको मान लेता है कि शेषोक्त प्रकार का ज्ञान पूर्वोक्त प्रकार के ज्ञान का अनुमान कर लेता है।

"क्योकि यह कैसे सम्भव है कि पहचान (ज्ञान) की शक्ति का उद्‌वोधन हो सिवा उन वस्तुओ के सयोग से जिनका प्रभाव हमारी इन्द्रियो पर पडता है और जो स्वय अपने प्रतिविम्व उत्पन्न करती है और अशत हमारी वुद्धि को जाग्रत करती है ताकि वह इन प्रतिविम्बो की तुलना कर सके, इनको जोड सके तथा अलग अलग कर सके और इस प्रकार हमारे इन्द्रिय-लब्ध चित्रो के कच्चे माल को वस्तुओ के ज्ञान के रूप में परिणत करता है और जिसको हम अनुभव का नाम देते है। इसलिए समय के खयाल मे हमारा कोई ज्ञान अनुभव से पहले नही है लेकिन इसके साथ ही आरम्भ होता है।"

कैंट आगे चल कर कहता है कि ज्ञान का एक और अग है। "यद्यपि हमारा ज्ञान अनुभव से आरम्भ होत है, इसक यह अर्थ नही कि अनुभव से ही सव ज्ञान की उत्पत्ति है। क्योकि इसके विपरीत यह वहुत सम्भव

है कि जो कुछ हमको इन्द्रियसयोग से प्राप्त होता है और जो कुछ हमारी पहचान की शक्ति स्वय अपना अश मिलाती है, इन दोनो के मिश्रण से ही हमारा व्यावहारिक ज्ञान बनता है। लेकिन मुद्दत की आदत से ही हमारे अन्दर वह कौशल और एकाग्रता आती है जिससे हम इन दोनों को पृथक् करने मे समर्थ होते है।"

कैंट के पहले के दार्शनिक दो मुख्य दलो में बँटे हुए थे, एक भौतिक-वादी जो इन्द्रियानुभव तथा इसके ऊपर सोच-विचार के दुहरे रास्ते द्वारा बाहरी दुनिया से सब ज्ञान की उत्पत्ति बताते थे और दूसरे आदर्श-वादी जो कहते थे कि मानस मे ऐसे विचार है जिनका कारण नही बताया जा सकता, ऐसे विचार जिनकी सार्वभौमिकता और अमूर्तरूप यह निर्देश करता है कि ये स्वय प्राप्त है और सब अनुभव के मूल मे है।

कैंट की ऐतिहासिक स्थिति यह है कि दोनो दृष्टिकोणो के समन्वय के द्वारा उसने इस विरोध का अत किया और उसका यह दावा था कि इस नये दृष्टिकोण में उसने इन दोनो का सम्मेलन एक ऊँचे स्तर पर कराया है। उसने यह मान लिया कि स्थान, काल, कारण इत्यादि अमूर्त कल्पनाओ को केवल अनुभव मे रूपान्तरित नही किया जा सकता, दूसरी ओर, यद्यपि ये स्वयप्राप्त है, यह कल्पना नही की जा सकती कि ये बिलकुल ही अनुभव पर निर्भर नही है। उसका दावा था कि वास्तविकता यह है कि सब अनुभव के मूल में पूर्व परिस्थिति के रूप में ये विद्यमान है और इस तरह अनुभव के रूपो का ये निर्णय करते है।

उसने यह दलील दी कि ज्ञान के दो उद्गम नही है—एक ओर बाहरी वस्तु और दूसरी ओर मानव बुद्धि। ज्ञान का एक ही उद्गम है—वह है कर्ता और कर्म (बुद्धियुक्त मनुष्य और वस्तु) का सम्मेलन। इस प्रकार जल अम्लजान और उद्जान का सम्मेलन है; लेकिन आप यह नही कह सकते कि जल के दो कारण है—एक अम्लजान और दूसरा उद्जान; इसका एक ही कारण है, दोनो का सम्मेलन।

"सारा ससार हमारे लिए दृश्यमान घटनाओ की एक परम्परा है।

क्या ये दृश्य मानस की उपज है जिसके सामने ये दर्शित होते है, या कि ये वस्तुओ के विशुद्ध प्रतिनिधि है? आदर्शवाद या वस्तुवाद? दोनो मे से कोई नही और दोनो। मानस और वस्तु सहयुक्त होकर दृश्य या प्रत्यक्षीकरण को उत्पन्न करते है। प्रत्यक्षीकरण दोनो के सम्मेलन का ही फल है।"

हेगेल के बहुतेरे सिद्धान्तो का मूल कैंट के दर्शन मे मिलता है। जब कैंट ने सब सम्भव ज्ञान के क्षेत्र को उन रूपो में सीमित कर दिया जिनमे मनुष्य बाहरी दुनिया को देखता है तो उसने हेगेल के इस वाक्य की नीव डाली कि "जो कुछ वास्तव है वह तर्कसगत है और जो कुछ तर्कसगत है वह वास्तव है।"

ठीक है कि कैंट ने यह अस्वीकार किया कि वस्तु स्वरूप का कोई ज्ञान प्राप्त हो सकता है, लेकिन हेगेल को दो दिशाओ मे यह असम्बद्ध मालूम हुआ। पहली बात तो यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार कि 'विचार रूप' के अन्दर की वास्तविकता को देनेवाला अनुभव ही है, वस्तु-स्वरूप नामक विचाररूप तभी सत्य हो सकता है जब इसकी उत्पत्ति किसी अनुभव से ही हो। दूसरी बात यह है कि दृश्यगत घटनाओ मे तथा इनके और बुद्धि के बीच के सम्बन्ध मे ही अनुभव का निवास है। एगेल्स ने इसी का भाषान्तर करके कहा—"यदि हम किसी वस्तु के सभी गुणो को जान ले तो वस्तु-स्वरूप के विषय मे कुछ आविष्कार करना बाकी नही रह जाता सिवाय इसके कि वह वस्तु हमारे बाहर है और उसका अस्तित्व हमारे ऊपर निर्भर नही है।"

इन्द्रियानुभूतिवादियो (लॅक इत्यादि) के खण्डन की क्रिया मे कैंट के सिद्धान्तो ने उसको यह कहने के लिए बाध्य किया कि हम पृथक् रूप से केवल गुणो का प्रत्यक्षीकरण नही करते। सम्पूर्ण प्रत्यक्षकारी सज्ञा क्रियाशील प्रत्यक्षीकरण मे सम्पूर्ण बाहरी वास्तविकता के द्वारा सशोधित और परिवर्तित होती है। हेगेल ने इन दोनो सम्पूर्णो को एक

विकासमान सम्पूर्ण के धनात्मक और ऋणात्मक रूप मे माना और इस प्रकार पूर्ण आदर्शवाद को पहुँचे।

कैंट ने कर्ता और कर्म (वस्तु) के विरोधात्मक एकत्व को अपनी दर्शन-व्यवस्था का केन्द्र बनाया। लेकिन असगति उसकी इस कल्पना मे यह थी कि एक ही ओर यानी कर्ता की ओर ही यह एकत्व क्रियाशील तथा फलोत्पादक है। हेगेल ने इस असगति को दूर किया और इस बुनियाद पर अपनी सारी प्रथा का निर्माण किया कि सत्य का अवस्थान न केवल शुद्ध कर्ता मे और न केवल शुद्ध वस्तु मे है बल्कि इनके बीच के क्रिया-शील सम्बन्ध मे है, जिस सम्बन्ध के द्वारा कर्ता और वस्तु दोनो मे क्रम-वर्द्धन-शील रूपान्तरण होता रहता है। आदर्शवाद के स्तर पर यह कल्पना हमको ले जाती है सीधे रहस्यवाद और इसके रास्ते से युक्ति-पूर्ण विचारो के ध्वस की ओर। अपने उल्टे रूप मे, भौतिकवाद के स्तर पर यह हमको ले जाती है मार्क्सीय विश्व कल्पना की ओर।

आदर्शवाद ने क्रियाशील पक्ष को विकसित किया, लेकिन केवल अमूर्तरूप मे—द्वन्द्वमान, तर्क और विचार के व्यापक नियमो के विकास मे तथा मनुष्य की मस्तिष्क-क्रिया की सीमाओ को रेखाकित करने मे। वस्तुओ के द्वारा रक्त-मास-सम्पन्न मनुष्य-व्यवहार के क्रियाशील पक्ष का विकास भौतिकवादियो ने किया नही और आदर्शवादी अपने आदर्शवाद के कारण कर न सके।

प्रारम्भ मे दिये गये ज्ञान की परिभाषा का द्वन्द्वात्मक रूप अब समझा जा सकता है। मनुष्य के बाहर स्थित प्रकृति ही ज्ञान का उद्गम है। ज्ञान प्रक्रिया मनुष्य और वस्तु के बीच एक क्रिया प्रतिक्रिया है जो मनुष्य और वस्तु दोनो को रूपान्तरित कर देती है। मनुष्य भिन्न बन जाता है, ज्ञान-प्राप्ति के कारण, और वस्तु भिन्न बन जाती है, ज्ञात होने के कारण। ज्ञात वस्तु अपने पहले रूप से विभिन्न बन जाती है और ज्ञानी मनुष्य भी अपने पहले रूप से भिन्न है। ज्ञान का मूल है मनुष्य की व्यावहारिक क्रिया—वस्तुओ के द्वारा, अनुभव के द्वारा।

ज्ञान-प्राप्ति की पहली सीढी है इन्द्रियानुभूति। इन्द्रियानुभूति कोई ऐसी चीज नही है जो मनुष्य अवयव के साथ सदा एकसाँ बनी रहती हो। यह इन्द्रियानुभूति एक विशेष उपज है और यह पैदा होती है पशुओ की इन्द्रियानुभूति से भिन्न रूप में, ऐतिहासिक, सामाजिक प्रयोग की बुनियाद पर। सामाजिक ज्ञान का विकास इन्द्रियानुभूत तथा युक्ति-युक्त ज्ञान दोनो को समृद्ध करता है। किसी भी असभ्य मनुष्य के विचार और इन्द्रियानुभूति का स्तर इतना निम्न होता है कि किसी सभ्य मनुष्य से उसकी तुलना नही हो सकती। उसके निम्नस्तर और अत्यन्त सीमित पार्थिव आचार-व्यवहार पर ही उसके विचार और इन्द्रियानुभूति दोनो ही निर्भर हैं।

ज्ञान की दूसरी सीढी है तर्कबुद्धि। यह बुद्धि भी प्रयोग और व्यवहार के द्वारा आती है।

व्यवहार और तथ्य

भूत पहले या मानस्? यह प्रश्न एक दूसरे रूप में भी जीवन के सामने उठ खडा होता है। प्रयोग पहले या सिद्धान्त? व्यवहार पहले या तथ्य? इसका उत्तर हमको जीवन-पथ में एक विशिष्ट दिशा की ओर ले जाता है। इस विषय में मार्क्सवादी दृष्टिकोण भी अपनी विशेषता रखता है। कुछ लोग कहते हैं—प्रयोग और सिद्धान्त में कोई समन्वय नही हो सकता। प्रयोग इस गदी, स्थूल, असत्य, मायावी दुनिया की चीज है, सिद्धान्त चिर सत्य, शिव और सुन्दर है, दोनो का क्या सम्बन्ध है? सिद्धान्त-दर्शन—ज्ञान ही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त कुछ है ही नही, इस तरह के विचार रखनेवाले लोग, मकडी की भाँति अपने भीतर से सिद्धान्त को निकालते हैं। दूसरे लोग हैं, जो प्रयोग से एकदम इन्कार तो नही करते, किन्तु वह सिद्धान्त को ही प्रधान मानते हैं। उनकी दृष्टि में सिद्धान्त प्रयोग की सन्तान नही है, वह एक स्वयभू तत्व है। ऐसे मतवालो के लिए प्रयोग का आश्रित होना निम्नकोटि के लोगो को ही शोभा देता है, सिद्ध महर्षि इसके ऊपर हैं।

यह ग़ौर करने की बात है कि प्राचीन भारत का प्रगतिशील युग प्रयोग निर्भर ही था जैसा कि अल्बेरूनी द्वारा उद्धृत आर्य भट्ट (४७६ ई०) के निम्न सूत्र से स्पष्ट हो जाता है —

"सूर्य की किरणे जो कुछ प्रकाशित करती है वही हमारे लिए पर्याप्त है। उनसे परे जो कुछ है, और वह अनन्त दूर तक फैला हो सकता है, उसका हम प्रयोग नही कर सकते। जहाँ सूर्य की किरणे नही पहुँचती, वहाँ इन्द्रियो की गति नही, और जहाँ इन्द्रियो की गति नही, उसे हम जान नही सकते।" (अल्-हिन्द)

पूर्वोक्त दृष्टिकोण श्रेणी-विभाजित समाज का और उस समाज में शारीरिक और मानसिक श्रम के विभाजन का परिणाम है। पूँजीवाद मे शारीरिक और मानसिक श्रम का विच्छेद पूरे तौर पर हो जाता है। श्रम के इस विभाजन के कारण प्रयोग से बिलकुल स्वतन्त्र होकर सिद्धान्त का निर्माण होता है और ऐसे विद्वत्तापूर्ण तथ्यो का आविष्कार होता है जो व्यवहार-कुशल लोगो की अवज्ञा के पात्र बन जाते है। इस प्रकार उत्पन्न प्रयोग और सिद्धान्त का विच्छेद पूँजीवादी विचार धारा की रक्षणशील संकीर्णता के कारण अधिक गहरा बन जाता है और जो आज के दिन के ढोंगपूर्ण विचारो के लिए ज़िम्मेदार है।

विज्ञान की विभिन्न शाखाओ के अध्ययन से भी हम इसी नतीजे पर पहुँचते है कि प्रयोग ही सिद्धान्त का जनक है। देश-विजय और व्यापार ने भूगोल को जन्म दिया। पैदावार तथा उद्योग और लड़ाई के औजारो ने खनिज-विज्ञान की सृष्टि की। कृषि मे बीज बोने के लिए ऋतुओ के ज्ञान की आवश्यकता हुई। इस आवश्यकता के कारण नक्षत्रशास्त्र की रचना हुई। इसी नक्षत्रशास्त्र की शाखा उप-शाखा के रूप मे आलोक-विज्ञान तथा पदार्थ-विज्ञान की सृष्टि हुई (दूरबीन आदि का आविष्कार)। व्यवहारिक उपयोगिता ही यन्त्रगतिशास्त्र का जनक है जैसे नील नदी की सतह को उठाकर खेत सींचने की आवश्यकता

इत्यादि। इतर धातुओ को सोने मे परिवर्तित करने की चेष्टा से रसायनशास्त्र की उत्पत्ति हुई। रसायनशास्त्र के समवाचक अँगरेजी शब्द केमिस्ट्री की व्युत्पत्ति है मिश्र-भाषा के शब्द 'कीमिया' से। गणित-शास्त्र एक ऐसा शास्त्र है जो सबसे अधिक बुद्धि-प्रसूत और प्रयोग से असम्बन्धित जान पडता है। लेकिन इसके इतिहास के अध्ययन से भी यही विचार-धारा पुष्ट होती है। खेतो की नाप-जोख से ज्यामिति (रेखागणित) का सम्बन्ध है और जिस समय रोम अधिपति अँगस्टस् ने सिकन्दरिया के हीरो को रोमन राज्य का नकशा खीचने के लिए नियुक्त किया उससे भी ज्यामिति-शास्त्र ने काफी पोषण-प्राप्त किया। Science at the Ross-Roods (विज्ञान के चौमुहाने पर) नामक लेख मे हेसेन ने न्यूटन पर जो प्रकाश डाला है उससे इस भ्रम का निराकरण होता है कि न्यूटन किसी द्युलोक का स्वप्न द्रष्टा है जिसका पार्थिव व्यवहार से कोई सस्पर्श नही है। उसने यह दिखलाया है कि न्युटन ने जिन समस्याओ का समाधान किया है, उनकी उत्पत्ति उस समय के मानव-समाज की व्यावहारिक आवश्यकताओ से ही हुई है।

अब गणित के उस विभाग पर विचार कीजिए जिसको गणितज्ञ प्रतिदिन के जीवन से असम्बन्धित समझते है—सम्भावित का तथ्य (Theory of Probability)।

चूंकि गणितज्ञ अपने अध्ययन-क्षेत्र के युक्ति विचार के सिलसिले मे ही अधिक दिलचस्पी रखते है, इसलिए वे उस सामाजिक पृष्ठभूमि को भूल जाते है जिससे गणितशास्त्र की उत्पत्ति हुई है। रूपहीन वैज्ञानिक ज्ञान की कल्पना कैसी होती है इसका उदाहरण हमको सम्भावित के तथ्य से मिलता है। अधिकतर लोग यह समझते है कि यह (Theory of Probability) कोई तर्क की शाखा है या यह एक ऐसा ज्ञान है जिससे किसी निश्चित परिणाम की हम आशा कर सकते है। परिगणन विद्या (Statistics) के क्षेत्र में इस तथ्य का प्रयोग ऐसे होता है मानो यह कोई जादू विद्या हो। इस क्षेत्र के बाहर ताश या फड इत्यादि

के जुआ के खेलो से ही इसका सम्बन्ध है। आकस्मिक सम्बन्ध के अलावा इन विभिन्न क्षेत्रो का क्या और भी कोई सम्बन्ध है? अब ज़रा इस पर गौर कीजिए कि सम्भावित के तथ्य की उत्पत्ति कैसे हुई।

यह अव निश्चय हो गया है कि यूनानियो के समाज मे क्षतिपूरक वीमा की प्रथा सुप्रचलित थी। ईसा से पूर्व पाँचवी सदी मे एथेन्स मे बैको की स्थापना हो गई थी और भिन्न भिन्न कारोबारो पर सूद बँधे हुए थे. इतिहास में बीमा का नाम पहले पहल यूनानी ऐन्टीमीनीज़ के साथ संयुक्त है जिसने ३८४ ई० पू० मे दासो के भाग जाने के क्षतिपूरण के लिए, उनके मूल्य का ८ प्रतिशत सालाना देने पर वीमा का रिवाज जारी किया। यूनान के व्यापारिक युग मे सामुद्रिक वीमा का प्रचलन हुआ। इसके अनुसार जहाज़ पर माल लद जाने पर बैक का मालिक व्यापारी को एक बँधी रकम दे देता था। यदि जहाज डूब गया तो व्यापारी यह रकम रख लेता था, नही तो मय सूद यह रकम उसको बैक के मालिक को दे देनी पडती थी। रोमन युग मे व्यापारी सम्प्रदाय मे एक प्रकार का वीमा प्रचलित था जिसके अनुसार उसके किसी सदस्य की मृत्यु पर उसके जीवित रिश्तेदारो को एक निश्चित रकम दी जाती थी। लैटिन शब्द Average (औसत) का मूल है (Averagium) व्यक्तिगत सौदागर के क्रय विक्रय के माल का वह अश जो कि आवश्यकता पडने पर तूफान के समय जहाज़ पर से समुद्र मे गिरा दिया जाता था।

कोई लिखित प्रमाण नही है कि यह दर किस प्रकार निकाली जाती थी, लेकिन इसमे कोई सन्देह नही कि सामाजिक पृष्ठ-भूमि से, वाज़ार की वातचीत से और साधारण ज्ञान से दासो के भागने की प्रतिनिधि-सख्या ८ प्रतिशत रक्खी गई होगी। सामाजिक नियमानुवर्तितता के अक को यह प्रकाशित करता था और सामाजिक व्यवहार मे इसका प्रयोग होता था। सम्भावित का एक वास्तविक अर्थ था और उन अवस्थाओ मे भविष्यवाणी का एक उपयुक्त रूप था। इस भविष्यवाणी ने वीमा की दर का रूप ग्रहण किया।

इसके वाद वर्तमान काल तक के वीमा के इतिहास में हमको जाने की कोई आवश्यकता नही। आज यह सम्भावित का तथ्य इतने उत्कर्ष पर पहुँच चुका है कि यह जान ही नही पडता कि इसके पीछे कितने सदियो का अनुभव और निरीक्षण है।

अनुभव सामाजिक प्रयोगो का परिणाम तथा जोड है। लेनिन के शब्दो में "अनुभव में, हमारी बुद्धि पर अनिर्भर होकर, बुद्धि के विषयो का आविर्भाव होता है।"

मौसमी हवा और सामुद्रिक धाराएँ जीवरूप के आविर्भाव के वहुत पहले से थी—मानव ज्ञान और सामाजिक प्रयोग के आविर्भाव के कोटिश' वर्ष पहले ये वर्तमान थी—लेकिन बहुत दिनो की समुद्रयात्रा के अनुभव से ही इन हवाओ और धाराओ का ज्ञान सम्भव हो सका।

फिर लेनिन के ही शब्दो मे "युक्तियुक्त बुद्धि, जिसको लोग समझते है कि वह इसी रूप में अनतकाल से चली आ रह है, क आ ार है मानव-व्यवहार जो लाखो वार दुहराने पर सज्ञा के अन्दर तर्कज्ञान के रूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है।"

लेकिन यद्यपि व्यावहारिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ही सिद्धान्त का जन्म होता है लेकिन जन्म ग्रहण करने के वाद एक सीमा तक इसका स्वतन्त्र विकास ह.ता है और जिस व्यावहारिक आधार पर यह उठ खडा होता है उसको प्रभावित, सशोधित और परिवर्धित किये विना नही रहता।

इस प्रकार प्रयोग और सिद्धान्त 'विरोधियो का एकत्व' है जिनके परस्पर प्रभाव क। कोई अत नही है—जब तक मनुष्य ज।ति क। अस्तित्व है। मानव-व्यवहार प्राथमिक है—गेटे के शब्दो में, 'आरम्भ मे था कर्म'—लेकिन चूंकि व्यवहार पूर्णता लाता है, इसलिए प्रयोग का विकास सिद्धान्त को आगे वढाता है और यह पुन प्रयोग को प्रभावित करता है।

यहा पर वुखारिन के दो एक उद्धरण अनुपयुक्त न होगे।

"उद्योग और सिद्धान्त दोनो ही सामाजिक मनुष्य की क्रिया है।

यदि हम सिद्धान्त को एक निश्चित प्रणाली के रूप मे और प्रयोग को एक बनी बनाई वस्तु की तरह न देखे बल्कि क्रियाशील अवस्था मे इनको देखे तो हमको श्रमक्रिया के दो रूप दिखलाई पडेगे—श्रम का शारीरिक और मानसिक भागो मे विभाजन सिद्धान्त प्रयोग का सञ्चित और सार रूप है।"

"प्रयोग और सिद्धात की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया और उनकी एकता का विकास प्रयोग की प्राथमिकता की बुनियाद पर होता है। (१) इतिहास मे—व्यावहारिकता के क्षेत्र मे विज्ञान ने जन्म ग्रहण किया; विचारो की उपज वस्तुओ की उपज से ही अपना रूप ग्रहण करती है। (२) सामाजिकता के क्षेत्र मे—सामाजिक रहन-सहन सामाजिक चेतना का मूल है। सम्पूर्ण सामाजिक विकास वस्तु-उत्पादक श्रम-क्रिया-शक्ति-जनित है। (Theory and Practice from the standpoint of Dialectical Materialism—Bukharin)।

मार्क्स से ही हमको प्रयोग की प्राथमिकता की बुनियाद पर प्रयोग और सिद्धान्त के समन्वय की शिक्षा मिलती है। प्रयोग ही सिद्धान्त की सत्यता का प्रमाण है।

द्वन्द्वन्याय और विकास

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जगत् परिवर्तनशील है। विकास परिवर्तन का ही एक प्रकार है। इस परिवर्तन को देखने के विभिन्न दृष्टि-कोण है। अतिभौतिकवादी और नैसर्गिकवादी का दृष्टिकोण एक है और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी का दृष्टिकोण और है। लेनिन की व्याख्या से इस पर काफी प्रकाश पडता है। "विकास विरोधियो का सघर्ष है। विकास की दो ऐतिहासिक धारणाएँ है — (१) विकास वृद्धि और ह्रास तथा दुहराने के रूप मे, (२) विकास विरोधियो के समन्वित एकत्व तथा परस्पर सम्बन्धित रूप मे।

पहली धारणा मृत, शुष्क, नि सार है; दूसरी जीवित है। दूसरी धारणा के द्वारा ही हर विद्यमान वस्तु की स्वयगति समझी जा सकती

है और इसकी कल्पना की जा सकती है कि पुराने का ध्वस होकर नये का आविर्भाव कैसे होता हं। Lenin—Materialism and Empirio—critisim)

विकास की पहली धारणा से हम मौलिक परिवर्तन को नही समझ सकते। इस धारणा के अनुसार परिवर्तन को क्रम-विवर्तन के रूप में देखा जाता है। परिवर्तित वस्तु भी मुख्यत मूल वस्तु ही है। मूल वस्तु म परिवर्तन की मात्रा अत्यल्प होती है और इन स्वल्प मात्राओ को जोड कर ही परिवर्तित वस्तु बन जाती है। लेकिन इस प्रकार मौलिक परिवर्तनो को समझा नही जा सकता। पीछे दिये गये उदाहरणो से यह सिद्ध है कि प्राकृतिक वस्तुओ की एक अवस्था से दूसरी अवस्था की कुदान होती है। प्रकृति में क्रान्तिकारी परिवर्तन के उदाहरण मिलते है। विकास ही प्रकृति का एकमात्र नियम नही है, क्रान्तिकारी परिवर्तन का भी उसमें स्थान है।

वहुतेरे लोग द्वन्द्वमान को विकासवाद के सिद्धान्त का पर्यायवाचक समझते है, लेकिन इसमें और उस निकृष्ट तथा-कथित विकासवाद के सिद्धान्त में वहुत अन्तर है जिसकी बुनियादी वात यह है कि आकस्मिक घटनाएँ प्रकृति में और इतिहास मे नही घटती—दुनिया में जितने परिवर्तन होते है, सब धीरे-धीरे होते है। हेगेल ने पहले ही दिखलाया है कि इस अर्थ में विकासवाद सामञ्जस्यहीन तथा प्रलाप-मात्र है।

किसी वस्तु के आविर्भाव या तिरोभाव की कल्पना उसके क्रमश आविर्भाव या तिरोभाव की कल्पना है। लेकिन सत् (अस्तित्व) का परिवर्तन न केवल एक गुण से दूसरे गुण का परिवर्तन है बल्कि परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन है। इस प्रकार, एक परिवर्तन घटित होता है, जो एक दृश्यगत घटना को दूसरे के स्थानापन्न करता है और धारा टूट जाती है। हर वार जव प्रवाह की धारा टूट जाती है तव विकास के रास्ते एक आकस्मिक परिवर्तन घटित होता है। हेगेल ने अनेको दृष्टान्तो से यह प्रमाणित किया है कि प्रकृति और इतिहास में कितने ही

बार आकस्मिक परिवर्तन होते रहते हैं। साधारण-जन-विदित विकासवाद के सिद्धान्त के पोलेपन को उन्होने अच्छी तरह दर्शाया है। हेगेल के शब्दों मे 'क्रम विवर्तन की बुनियादी बात यह है कि जिसका आविर्भाव होता है वह पहले से ही विद्यमान रहता है, केवल सूक्ष्म होने के कारण अदृश्य रहता है। इसी प्रकार जब हम किसी दृश्यगत घटना के तिरोभाव की बात करते है तो हम ऐसी कल्पना करते है कि जिसका तिरोभाव होना है वह तिरोहित हो चुका है और पूर्वगत घटना का जो स्थान लेता है वह पहले से ही विद्यमान है लेकिन दोनो ही दृष्टि-गोचर नही होते। परन्तु इस प्रकार से हम आविर्भाव या तिरोभाव के सम्पूर्ण ज्ञान को दबा देते है। किसी 'घटना के आविर्भाव या तिरोभाव की व्याख्या क्रमविवर्तन के द्वारा करना शब्द-सम्भार-मात्र है और इसका अन्तर्निहित अर्थ यह है कि जो वस्तु की आविर्भाव या तिरोभाव की प्रक्रिया मे है, हम ऐसा समझते है कि वह आविर्भूत या तिरोहित हो चुका है।" (Fundamental Problems of Marxism—Plekhanov)।

हेगेल ने स्वय इस विषय का जो विवरण दिया है वह महत्त्वपूर्ण है। "लोग परिवर्तन को उसके क्रम की न्यूनता से अपनी कल्पना के अन्तर्गत करना चाहते है; लेकिन क्रमिक परिवर्तन नाममात्र का परिवर्तन है और गुणात्मक परिवर्तन का विपरीत है। क्रमिकता, दो वास्तविकता के सयोग को, चाहे ये दो अवस्थायें हो चाहे दो स्वतन्त्र वस्तु, दबा देती है, परिवर्तन को समझने के लिए जिसकी आवश्यकता है उसका अपसरण हो जाता है।

सगीत सम्बन्धो मे परवर्ती स्वर आरभ के मूल स्वर से दूर हटते जाते है, फिर ऐसा मालूम होता है कि एकाएक वह मूल स्वर लौट आया। यह पिछले स्वर मे जोड का परिणाम नही है, इसका सम्बन्ध दूर के स्वर से मालूम पडता है।

सब मृत्यु और जन्म धारावाहिक क्रमिकता न होकर, इसके विघ्न ही है और परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन की यह एक कुदान है।

साधारण कल्पना जब किसी उत्थान या निर्वाण का खयाल करती ह तब इसको वह क्रमिक उत्थान या निर्वाण के रूप में देखती है, परन्तु अस्तित्व में परिवर्तन न केवल एक परिमाण से दूसरे परिमाण का रूपान्तरण है बल्कि गुणात्मक से परिमाणात्मक तथा इसके विपरीत रूपान्तरण में है। यह स्व मे भिन्न होने की एक क्रिया है जो क्रम की धारा को तोड देती है।"

प्रारंभिक बात यह है कि प्रकृति को समझने के लिए इसके इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता है। परिमाण की दृष्टि से यह तो निश्चय ही है कि किसी भी मुहूर्त्त में विश्व-ससार वही है जो वह पहले था और जो कि भविष्य के ससार के निर्माण की प्रक्रिया में है। इसी अनुमान के आधार पर विश्व-ससार बुद्धि-गम्य है और व्यवहार-योग्य है। गुणात्मक दृष्टि से यह समान रूप में स्वयसिद्ध है कि किन्ही दो मुहूर्तों मे विश्व-ससार एकसाँ नही है। यहाँ तक हालत, डारविन की क्रान्तिकारी पुस्तक "Origin of Speeies" के प्रकाशित होने के बाद साधारण विकासवाद की कल्पना के अनुरूप ही है। लेकिन यदि इस कल्पना को व्यवहारोपयोगी वनाना है तो और गहराई तक इसको ले जाना पडेगा। विशेषकर इस जानकारी की आवश्यकता है कि विश्व-ससार का निरन्तर रूप-परिवर्तन ऊपरी परिवर्तन ही तक मीमित नही है, वल्कि इसका वुनियादी सगठन भी उसमे सम्मिलित है और वे गति ाँ भी जिनके योग की सम्पूर्णता मे विश्व की क्रियाशीलता है। इस ज्ञान से भी इसको समृद्ध करना चाहिए कि विश्व के असीम परिवर्तन में अपरिवर्तनीयता की मात्रा कितनी है। विज्ञान में पुनरावर्तन के दृष्टान्तो से यह विलकुल स्पष्ट हो जाता है।

मूल, वस्तु या चेतना ?

मूल भूत है कि चेतना? इस प्रश्न के उत्तर मे आधुनिक वैज्ञानिक एडिंग्टन भी कहते हैं 'खोजते हुए अन्त मे जहाँ पहुँचा वहाँ देखता हूँ मन की छाया-मात्र है।' वैज्ञानिक जीन्स गणित-शास्त्र के

पण्डित हैं। उनका कथन है—"अन्त मे देखता हूँ विज्ञान की ही विजय है। विश्व का मूलाधार ईश्वर एक अकशास्त्रविद् है और यह विश्व उसी के मस्तिष्क का एक अक-मात्र है।" पूछा जा सकता है कि एडिंगटन का मानस और जीन्स का अक क्या उनके मस्तिष्क और शरीर के ऊपर निर्भर नही है? क्या अपना मस्तिष्क और शरीर उनको अभौतिक या अतिभौतिक मालूम होता है?

जीन्स, एडिंगटन आदि की वर्णन की शैली मे कुछ अन्तर है, उस पर आधुनिकता की मामूली छाप है, लेकिन बात पुरानी है—-पिथागोरास का अक, प्लेटो का आदर्श, उपनिषदो का ब्रह्म—केवल नई पोशाक मे हमारे सामने आए है।

वस्तु को लाँघकर उसके पीछे किसी अव स्तव अलौकिक की प्रतिष्ठा की चेष्टा हमको अस्वाभाविक नही प्रतीत होती। श्रेणी-विभाजित समाज में वास्तव-जीवन जब अनिश्चित और जटिल होता है तब एक अलौकिक और अन्तिम सत्य की प्राप्ति से वास्तव-पीडित मन को सान्त्वना मिलती है। धर्म की प्रयोजनीयता का समर्थन करते हुए बडे बडे धार्मिक भी यही युक्ति पेश करते है। सब अभिज्ञता को धो-मिटा कर विशुद्ध परम.र्थ की प्राप्ति से जीवन की अवहेलनाओ को भूला जा सकता है। इसी लिए काट का कहना है कि ईश्वर को युक्ति से न जाना जा सकता है न प्रमाणित किया जा सकता है; ईश्वर आत्म-प्रत्यय का विषय है। हिन्दू-दर्शन की भाषा मे ईश्वर अवाङ्मानस गोचर है। प्रयोजनवादी (Pragmatist) एक क़दम आगे बढकर कहता है कि ईश्वर के अस्तित्व का कोई प्रमाण नही है सही, लेकिन इसकी प्रयोजनीयता और उपकार है, इसलिए इसको मान लेना चाहिए।

प्रयोजनीयता की बात पर यह प्रश्न उठ खडा होता है कि क्या ईश्वर की आवश्यकता को मनुष्य सदा एक ही रूप मे अनुभव करता आया है? दार्शनिक पण्डितो की तत्त्व-व्याख्या की गलती यही है कि वे इतिहास को दूर रख कर दर्शन को युक्ति-तर्क की व्यायामशाला बना

रखना चाहते है। वास्तविक अभिज्ञता और व्यावहारिक ज्ञान को उन्होने पहले ही अस्पृश्य करार दे रक्खा है।

यह जानना चाहिए कि मूल भूत है कि चेतना? यह प्रश्न कहाँ से आया। यही प्रश्न सारे दर्शन का पहला और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यही प्रश्न धर्म में कुछ भिन्न रूप मे दिखलाई देता है कि भूत यदि मूल है तो वस्तु-जगत् का सृष्टिकर्ता कौन है? वस्तु-जगत् स्वय-सिद्ध है कि ईश्वर-सृष्ट है। न्यूटन ने जब माध्याकर्षण-शक्ति (Gravity) का प्रमाण पेश किया तब धर्मवादियो ने उनको पकडा और पूछा कि आपको यह माध्याकर्षण-शक्ति आई कहाँ से? न्यूटन उसी समय विज्ञान-मन्दिर से बाहर निकल आये और उनको आश्वस्त किया। इस शक्ति का स्रष्टा है ईश्वर जिसने परमाणुओ की ईंटो से इस दुनिया को रचा है। यही ईश्वर युक्तियो की गलियो द्वारा असख्य नामो से आदर्शवादी दर्शन मे प्रकाशित होता है। चेतना को जब मनुष्य से विच्छिन्न कर एक अलौकिक सत्ता का रूप दिया जाता है तब दर्शन की यह चेतना ईश्वर ही का नामान्तर-मात्र है। सभ्य जगत के दार्शनिको ने अचानक इस चेतना का आविष्कार नही किया। आदिम जगली, असभ्य मनुष्य को ही वस्तु और चेतना के सम्पर्क के विषय मे सोचना पडा। यहाँ इतिहास के रास्ते हमको अपने पूर्व पुरुषो की भावना-धारणाओ का अनुसरण करना पडेगा!

फिलिपाइन के असभ्य इगोराओ से पूछिए, वे सीधी भाषा मे कहेगे—सब वस्तुओ के दो प्रकार के गुण है, एक दृश्यमान दूसरा अदृश्य। सभ्य जगत् के आदर्शवादी दार्शनिक अदृश्य को प्रकृतिजगत् के पीछे डाल रखते है, लेकिन असभ्य आदिम मनुष्य दृश्य और अदृश्य दोनो को वस्तुगत मानता है। दार्शनिक के अतिभौतिक जगत् को भी असभ्य आदिम मनुष्य मन्त्र-तन्त्र से वशीभूत करना चाहता है। आदिम असभ्य जातियो के खयाल में वे असख्य अतिभौतिक शक्तियो-द्वारा घिरे हुए है। सौंताल ओरा और मुण्डा आदि जगली जातियो के लोगो की यह धारणा है कि प्रत्येक पहाड, नदी और वन मे अगणित प्रेत घूम रहे है। इन प्रेतो की रुचि

और प्रकृति जान कर इनको वश मे लाने से प्रकृति-जगत् को वशीभूत किया जा सकता है। असभ्य मनुष्य के लिए प्राकृतिक शक्ति रहस्यमय है। उत्पादन व्यवस्था की शैशवावस्था मे मनुष्य के ऊपर प्रकृति का प्रताप प्रबल रहता है। इसी लिए आदिम मनुष्य अपनी ही तरह अनेकों अतिभौतिक शक्तियो का अनुमान करता है।

सभ्य मनुष्य का विश्वास है कि आध्यात्मिक शक्ति सदा मगलमय है, लेकिन असभ्य मनुष्य के लिए यह शक्ति निष्ठुर है, इसलिए सदा ही उसको विपत्ति मे डालती रहती है। पत्थर जब गिर कर आदमी को घायल करता है, अचानक पेड की डाल टूट जाती है तो यह सब प्रकार के भूतो या पेड के भूत की शैतानी छोड और क्या है? जब तक औज़ार हथियारो के ज्ञान की वृद्धि नही हुई तब तक असभ्य मनुष्य भूतो को वशीभूत करने के लिए मन्त्र-तन्त्र के ही फेर मे पडा रहा। हथियार औज़ारो के ज्ञान बढने के साथ साथ प्राकृतिक शक्ति पर मनुष्य की प्रभूता बढने लगी और भूतो की ताकत घटने लगी। भौतिक शक्ति निष्ठुर ही नही है बल्कि यह भलाई भी कर सकती है, जब इस धारणा का जन्म हुआ तब असभ्य मनुष्य के प्रेत-तत्त्व पर सभ्यता की मोहर पडी। प्रेत-तत्त्व है असभ्य मनुष्य का, देवता-तत्त्व इसके ऊपर की सीढ़ी है—जो सभ्य मनुष्य का है। आदिम असभ्य मनुष्य के लिए प्रकृति है निष्ठुर, भयावह, प्रकृति के रहस्य का भेद जानकर सभ्य मनुष्य कहने लगा "मगलमयी विश्व-जननी" यह परिवर्तन अकस्मात् एक दिन में नही हो गया। आदिम भूत-प्रेतो ने सभ्य होकर यह रूप ग्रहण किया है। आदिम मनुष्य का प्रेत-तत्त्व सभ्यता की सीढ़ी पर चढकर सूक्ष्म बन गया है। आदिम असभ्य मनुष्य मे बेर्गसॅ और श्री अरविन्द दूर ज़रूर है लेकिन रास्ता सीधा ही पहुँचा है। प्रकृति-जगत् को चलानेवाली है असख्य निष्ठुर प्रेतो की शक्ति, इसी प्राथमिक कल्पना का सशोधित रूप है देवताओ की कल्पना। ये सब देवता प्रकृति-जगत् के एक एक हिस्से के मालिक है, ये भलाई भी करते है और बुराई भी कर सकते है। जल, अग्नि, वायु—सभी प्राकृतिक

शक्तियाँ किसी न किसी देवता के अधीन है। देव-समाज भी मनुष्य-समाज के साँचे पर ढला हुआ है। ये असख्य देवता घटते-घटते एक ईश्वर तक पहुँचे। सभ्यता की सीढी पर चढकर वस्तु-जगत् के विषय में मनुष्य का ज्ञान ज्यो-ज्यो बढने लगा, त्यो-त्यो देवताओ की सख्या घटने लगी। मनुष्य ज्यो अगणित पदार्थो में एक मेल देखने लगा त्यो देवताओ का का बहुत्व भो एकत्व में परिणत हो गया।

पहले भूत, चैतन्य ? इस प्रश्न का आदिम असभ्य जातियो के प्रेत-तत्त्व से वहुत निकट सम्वन्ध है। इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि आदिम असभ्य मनुष्य को जीवन की प्राथमिक वातें सोचनी पडी थी। अनुमान के ऊपर प्रतिष्ठित मन्त्र-तन्त्रो के द्वारा उनको जीवन धारण का कौशल सीखना पडा था। उनकी यह कोशिश चाहे जितने बचपन की हो, उसका मूल है जीवन धारण की अभिलाषा। इसलिए जीवन-मरण के रहस्य ने आदिम मनुष्य को काफी चिन्तित कर डाला था। मनुष्य का शरीर जीवित अवस्था में एक प्रकार का और मरने पर दूसरे प्रकार का क्यो होता है ? जागरण, निद्रा, स्वप्न, रोग और व्याधि—ये सब क्यो होते है ? स्वप्न मे जो मनुष्य-मूर्तियाँ दिखाई देती है, वे सब क्या है ? स्वप्न में मनुष्यो की जो छायामूर्ति दिखाई देती है, वह ही शायद जीवन की कुजी है। शायद इस छायामूर्ति का शरीर छोडना ही मृत्यु है। असभ्य मनुष्य की प्रेतात्मा की धारणा इसी प्रकार बनी है। यहाँ इस धारणा की ऐतिहासिक आलोचना करने की आवश्यकता नही, लेकिन इसमें सन्देह नही कि यही प्रेतात्मा सभ्यता के साबुन में धुल कर चैतन्य परमात्मा आदि वन गई है। मानव आतमा के विषय में असभ्य जातियो की धारणा है कि यह सूक्ष्म भाप की तरह है। इसके शरीर त्याग देने से ही मृत्यु हो जाती है।

मनुष्य तथा अन्य उन्नत प्राणियो के शरीर-धारण के लिए श्वास-क्रिया बहुत ही आवश्यक है। मरते समय श्वास क्रिया क्षीण होते होते बन्द हो जाती है। आदिम असभ्य जातियो ने भी इसको देखा था। इसी लिए श्वास-क्रिया को ही उन्होंने आत्मा मान लिया था। आस्ट्रेलिया के

आदिम निवासियो की भाषा मे 'श्वास' 'प्राण' और 'आत्मा' इन सब के लिए एक ही शब्द है। हिब्रू तथा सभी आर्य भाषाओ के भाषा-विज्ञान में श्वास और आत्माबोधक शब्दो का निकट सम्बन्ध है। (यूनानी Psyche और Pneuma; लैटिन animus, anima, spiritus, इनका रूप-परिवर्तन इसी प्रकार से हुआ है)।

मनुष्य का शरीर-सम्बन्धी ज्ञान जितना ही उन्नत होता गया है, आत्मा की धारणा भी उतनी ही सूक्ष्म होती आई है और शरीर और आत्मा का अविच्छेद्य सम्बंध उन्हें दिखलाई देने लगा है। शरीर के साथ ही आत्मा का निधन होता है, इस बात को मनुष्य ने सभ्यता के प्राचीन युग मे ही मान लिया था। पश्चात् आत्मा के दो भाग किये गये—जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा नश्वर है, लेकिन परमात्मा अमर है। देहातीत आत्मा या चैतन्य इस तरह जिन्दा रहा। प्लेटो और अरस्तू, रामानुज और शकर सभी ने विदेही आत्मा को इस प्रकार ईश्वर या ब्रह्म के साथ जोड दिया। यह शरीर-सलग्न आत्मा किसी के लिए स्वर्ग-भ्रष्ट आत्मा है और किसी के लिए मायाबद्ध अहमात्र है। बात यह है कि आदिम मनुष्य की कल्पित वाष्पाकार प्रेतात्मा सूक्ष्म होकर नये रूप मे दिखलाई देने लगी। सभ्य मनुष्य के दर्शन और मनोविज्ञान पर इस सूक्ष्म आत्मा-पुरुष का प्रभाव अब भी बिलकुल मिटा नही। इसी लिए टाइलर का कहना है कि सभ्य जगत् के दार्शनिको की देश-कालातीत निराकार परमात्मा की धारणा का मूल है आदिम असभ्य मनुष्य की वाष्पाकार वास्तव प्रेतात्मा। आदिम मनुष्य की धारणा मे प्रेतात्मा का सूक्ष्म शरीर होता था। वही सूक्ष्म देहधारी प्रेतात्मा सभ्य मनुष्य के दर्शन मे विदेही परमात्मा बन गई है।

विदेह न बनाकर भी कोई उपाय नही। असभ्य मनुष्य के निकट प्राकृतिक और अलौकिक दोनो ही प्रत्यक्ष सत्य है, उनका विज्ञान प्रधानत: मन्त्र-तन्त्र है। सभ्य जगत् मे विज्ञान की उन्नति रोकी नही जा सकी। विज्ञान अलौकिक शक्ति की कोई परवाह नही करता, बल्कि

असभ्य मनुष्य के कल्पित अलौकिक के राज्य को क्रमश सकीर्ण बना देता है। यही कारण है कि विज्ञान के प्रभावस्वरूप दर्शन की आत्मा क्रमश विशुद्ध होती आई है, यानी इसका प्रमाण प्रयोग के बाहर ले जाकर इन्द्रिय-बुद्धि से परे रक्खा गया है। इसी आत्मा को सारे विश्व-तत्त्व के मूल में उन्होने विराजमान देखा। शकर वेदान्त के अनुसार विश्व का मूलाधार ब्रह्म और आत्मन् एक ही चीज़ है—तत्त्वमसि।

अब दर्शन के उसी पहले प्रश्न पर फिर लौट आइए—मूल भूत है या चैतन्य ? हमने देख लिया कि इस प्रश्न का आरम्भ है आदिम असभ्य मनुष्य की चिन्ताधारा से। इसी लिए एगेल्स ने कहा है कि आदिम प्रेत तत्त्व ही सभ्य समाज के धर्म तत्त्व के मूल मे है और धर्म ही के ज़रिए यह प्रेतवाद सूक्ष्म रूप धारण कर सभ्य जगत् के दर्शन का परमार्थ तत्त्व बन गया है। उन्नीसवीं सदी के साम्राज्य विस्तार के साथ अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका और आस्ट्रेलिया की आदिम असभ्य जातियो के साथ सभ्य मनुष्य का घनिष्ठ परिचय हुआ। इस समय मनुष्य के आदिम असभ्य जीवन के इतिहास का बहुत मसाला मिला। इससे मर्गन, टाइलर, फ्रेज़र और दूसरे विद्वानो ने मनुष्यो के आचार-विचारो मे एक साधारण मेल देखा। देखा गया कि प्रत्येक युग मे देश और जातियो की सीमा अतिक्रम कर मनुष्य की विचार-धारा एक प्रकार रही है। प्रेत-तत्त्व, जादू विद्या, अनेकेश्वरवाद, एकेश्वरवाद इत्यादि मनुष्य की चिन्ताधारा की सीढियाँ सभी देशो मे एक ही प्रकार की रही है। यह भी सन्धान मिलता है कि यह तत्त्व-विचार जीवन की गति के छन्द मे ही बदलता रहा है और सूक्ष्म भी होता आया है। हमारे असभ्य पूर्व पुरुषो का प्रेत-विश्वास ही सभ्य मनुष्यो के अध्यात्मवाद के मूल में है, इससे हमारे सभ्यतागर्वी मन को चोट पहुँचती है, लेकिन इतिहास इसका साक्षी है।

चेतना प्रकृति से परे है, इस विचार का आरम्भ कैसे हुआ, यह हमने देख लिया। इस विचार के विकास का भी हमने अध्ययन कर लिया। इसी प्रकार से प्रकृति-जगत् का इतिहास भी हमको यह दिखलाता है कि

चेतना की उत्पत्ति भी वस्तु जगत् मे ही है। आदर्शवादी दार्शनिक कहता है कि चेतना ही भूत का मूल है, लेकिन विज्ञान ने यह भली भाँति प्रमाणित किया है कि चेतना सदा से नही रही। वस्तु-जगत् के इतिहास मे ऐसा भी समय था जब जीव-जगत् का अस्तित्व नही था। वस्तु निरपेक्ष चेतना, रक्त-मास-विहीन अदृश्य ये धारणाये मनुष्य की बुद्धि-प्रसूत है। इसकी प्रसव-क्रिया को भी हमन देख लिया। लेकिन मनुष्य से भी पहले, जीव-जगत् के अस्तित्व के पहले, चेतना का अस्तित्व है, यह सम्भव नही। भूत से ही चेतना की उत्पत्ति है, इसलिए भूत ही पहले है। चेतना सर्वतोप्रकार भूत के पश्चात् है। अध्यात्मवादी वस्तु और चेतना के सम्पर्क को केवल वुद्धि-द्वारा जाँचते है, लेकिन मार्क्सवादी इसकी ऐतिहासिक आलोचना करते हैं।

आदिम मानव की अपरिणत विज्ञान-बुद्धि ने वस्तु-जगत् मे मनुष्य की ही भावना-धारणा की छाया देखी है। उसी ने प्रेत परमात्मा, देवता ईश्वर आदर्श आदि का रूप लिया है। सदियो पहले चार्वाक और ज़ेनो-फेनीज़ ने इसका अनुमान किया था। शताब्दियो की वैज्ञानिक गवेषणा से प्रमाण मिलता है कि भूत से ही चेतना की उत्पत्ति हुई है। चेतना भूत के ही विकास की एक विशेष अवस्था है। इस चेतना का, चाहे यह मनुष्य की हो चाहे किसी और प्राणी-विशेष की, भूत-जगत् से अलाहिदा कही पता नही चलता। अध्यात्मवादी सूर्य विज्ञान, भूतत्त्व और जीव-विज्ञान के प्रमाणित सिद्धान्तो को मान भी लेते है लेकिन साथ ही साथ कहेगे कि अस्फुट चेतना ने तो सारे जगत् को छा रक्खा है—यह विश्व चेतनामय है। इस प्रकार भूत-जगत् की एक विशेष वस्तु या गुण को वह इसके मूल मे बिठला देते है; मनुष्य की चेतना को देश कालातीत मान कर इसको भूत जगत् की चेतना का रूप दे देते है।

अनुभव ही इस अध्यात्मवादी युक्ति का अन्तिम उत्तर है। शरीर-विहीन चेतना का कोई अस्तित्व नही है। वर्बर के प्रेत की तरह मानव-कल्पना का यह प्रतिबिम्ब है। मार्क्सवाद इसी लिए इतिहास के ऊपर

जोर देता है, इस इतिहास अर्थ राजाओ का युद्ध नही है। यह समग्र मानव-समाज और सारे विश्व का इतिहास है। इतिहास ही चेतना के ऐतिहासिक जन्म का प्रमाण है, यह चेतना देश और काल से सीमित है। अध्यात्मवादी क्या करते है ? वे मनुष्य की किसी एक मानसिक क्रिया को मूल सत्य मानकर इसी को भूत-जगत् के मूल मे पहुँचा देते है— कोई कहता है कि भूत के मूल में है प्रज्ञा (Reason), कोई कहता है इच्छा-शक्ति (Will) और कोई कहता है प्राणशक्ति (Elan Vital)। जहाँ तक जान पडता है, जीव-जगत् मे मनुष्य को ही केवल अमूर्त भावना की क्षमता प्राप्त है। मानव मस्तिष्क और शरीर के सगठन की विशिष्टता से ही इस क्षमता की उत्पत्ति है। असख्य मनुष्यो की अभिज्ञता से ही 'मनुष्य' नाम की साधारण सज्ञा वनती है। लेकिन इन असख्य मनुष्यो को छोडकर इस साधारण सज्ञा का स्वतन्त्र अस्तित्व कहाँ रह जाता है ? साधारण सज्ञा मनुष्य की विचार-क्रिया की एक पद्धति है, यह मनुष्य के जीवन-धारण के काम आती है। अन्यान्य जीव वाहरी जगत् की प्रेरणाओ को मिलाकर अमूर्त भावना की सृष्टि नही कर सकते और इसी लिए प्रकृति के सामने उनकी अक्षमता अधिक है। साधारण सज्ञा की सृष्टि की क्षमता ने मनुष्य को प्रकृति के रहस्य को समझने मे काफी सहायता पहुँचाई है। लेकिन यही क्षमता मनुष्य के मन में भ्रान्ति की सृष्टि कर सकती है और करती है। साधारण सज्ञा वास्तव की अभिज्ञता से ही वनती है लेकिन मनुष्य का मन इसको वास्तव से हटा कर इसके एक स्वतन्त्र अस्तित्व की सृष्टि कर सकता है, और कर सकता है, इसी लिए मनुष्य की विचार-धारा को 'चेतना', 'प्रज्ञा' आदि अनेको साधारण सज्ञाओ में परिवर्तित किया जा सकता है। आदर्शवादी यह भूलकर कि 'चेतना', 'प्रज्ञा' आदि साधारण सज्ञायें असख्य जीवो की विशेष अवस्था पर निर्भर है, इनको एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप में देखते है।

भूत में ही चेतना का जन्म है, निर्विशेष चेतना का कोई अस्तित्व नही है, यह असख्य मनुष्य अथवा जीवो की चेतनाओ की साधारण सज्ञा-

मात्र है। अध्यात्मवादी करते यह है कि इन असख्य मनुष्यों और जीवों की भावना धारणाओं को मिलाकर 'चेतना' या ऐसा ही कुछ नाम देकर भूत के मूल मे प्रतिष्ठित करते है। चेतना, इच्छाशक्ति, प्राणशक्ति आदि ये सभी सज्ञाएँ वास्तव जगत् के अनेको मनुष्यो के जीवन मरण के सूत्र से बँधी हुई है।

द्वन्द्वन्याय और आधुनिक विज्ञान

आधुनिक विज्ञान ने द्वन्द्वमान के सिद्धान्त को भली भाँति प्रतिष्ठित कर दिया है। विज्ञान का विकास द्वन्द्वमान के नियमो का सर्वोत्तम उदाहरण है। इस दिशा मे क्रान्तिकारी अग्रदूत हुए रूसी रासायनिक दमित्री मेन्डेलीफ। उन्होने दिखलाया कि यदि रसायन के (Elements) मूल पदार्थों को उनके (Atomic weight) परमाणु के वजन के अनुसार सजाया जाय तो उनका इस प्रकार का क्रम बन जाता है कि वे आस-पास और ऊपर-नीचे सब प्रकार से सम्बन्धित रहते है। मेन्डेलीफ के नकशे मे मूल पदार्थो की कुछ श्रेणियाँ बनाई गई है। हर एक श्रेणी मे मूल पदार्थो का जो क्रम है, उसमे उनके परमाणुओ के वजन मे ज्यो ज्यो वृद्धि होती जाती है, उनके गुणो मे उसी प्रकार परिवर्तन होता जाता है। इसके अलावा प्रत्येक परवर्ती श्रेणी मे पिछली श्रेणी के पारस्परिक सम्बन्ध की पुनरावृत्ति होती है लेकिन एक उच्च स्तर पर। इस नकशे मे कुछ खाने खाली थे। मेन्डेलीफ ने यह भविष्यवाणी की कि एक विशिष्ट Atomic weight और विशेष गुण-सम्पन्न मूल पदार्थों से इन खानो की पूर्ति होगी—और इन मूल पदार्थों (Elements) का आविष्कार हुआ।

इस चित्र का महत्त्व यह है कि इससे यह साबित हो गया कि रसायन के मूल पदार्थो के गुणो की विभिन्नता उनके सगठन के परिमाण-भेद पर निर्भर है। मेन्डेलीफ ने मरते समय तक इस आशा का पोषण

किया कि विभिन्न गुण सम्पन्न मूल पदार्थ एक ही मूल पदार्थ Ether के विभिन्न परिमाणो के सयोग से बने हुए हैं।

मेन्डेलीफ की मृत्यु (१९०७) के पश्चात् मोसले ने १९१२ मे एक नई गणनानुसार उनके सिद्धान्तो को और पुष्ट किया। मोमले के प्रयोगो ने यह सिद्ध किया कि मूल पदार्थो का गुण-भेद उनके सांगठनिक परिमाण-भेद का ही फल है। ऐसे मूल पदार्थो का पता लगा जो दूसरे मूल पदार्थो मे परिणत हो जाते है।

विज्ञान की गति यही पर नही रुकती। स्वय परमाणु भी अविभाज्य नही रहा। यह Electron परिवेष्टित कोप के रूप मे दिखाई देने लगा। अव Table की भित्ति बनी कोप (Nucleus) और Electron दोनो का परिमाण भेद। यह कोप धन-तडित्-सम्पन्न है जिसका नाम पडा Proton Electron वियोग तडित् सम्पन्न है।

इससे दो महत्त्वपूर्ण नतीजे निकाले गए। एक यह कि परमाणु तडित् पिण्ड-मात्र है और दूसरा यह कि परमाणु विरोधो का एकत्व है। प्रथम नतीजे का परिणाम यह निकला कि बिजली चूंकि शक्ति का रूप है, भूत शक्ति ही है, लेकिन साथ ही साथ इस शक्ति का माप और वजन होने के कारण शक्ति भी भूत ही है। इस प्रकार हम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के उस सिद्धान्त पर उपनीत होते है कि भूत शक्ति का गति रहित रूप है और शक्ति भूत का चञ्चल रूप है। साथ ही भूत की गति को यान्त्रिक रूप मे न पाकर द्वन्द्वात्मक रूप मे पाते हैं।

पुन यह आविष्कार किया गया कि परमाणु ही भूत का अन्तिम रूप नही है। पहले ही कहा जा चुका है कि परमाणु Electron वेष्टित कोष है। अव देखा गया कि सभी Electron वियोग-तडित्-सम्पन्न नही है। कुछ धन-तडित-सम्पन्न भी है। पहले का नाम पडा Negatron और दूसरे का Positron । अव देखा गया कि इस कोष का भी एक सूक्ष्म कोष (Negatron) है जो (Positron) वेष्टित

रहता है और एक नियत सख्या के (Negation) के सयोग से यह परमाणु मे परिणत हो जाता है। Positron और Negatron का सयोग होने से दोनो एक चमक पैदा कर उड जाते है। यह समझा जा सकता है कि इस सूक्ष्म कोष से एक और सूक्ष्मतर कोष का आविष्कार हो सकेगा। इससे इस भ्रम का निराकरण होता है कि किसी एक सूक्ष्मतम कण के उपादान से ही विश्वससार का निर्माण किया गया है।

एक बात और जान लेनी चाहिए। कुछ आधुनिक वैज्ञानिक अब रहस्यवाद की शरण लेते है। उनका कहना है कि भूत शक्ति ही है और इस शक्ति के पूर्णरूप का बोध नही हो सकता है। लेकिन यह बात सही नही है। यदि यह मान भी लिया जाय कि भूत बिजली ही है तथापि इस बिजली का परिमाण और वजन है इसलिए भूत की धारणा भले ही बदल जाय, इसका अस्तित्व मिट नही जाता। Jackson के शब्दो मे उन वैज्ञानिको की, जो भूत को केवल शक्ति का ही सगठन मानते है, तुलना उस वीर से की जा सकती है जिसने केवल धार से तलवार बनाई अथवा उन केवटो से जिन्होने जाल की यह परिभाषा की कि यह सुतली से बँधा हुआ छेद है।

Einstein के आपेक्षिकता के नियम का प्रारम्भ है कि निरपेक्ष गति की न तो धारणा की जा सकती है और न इसको मापा जा सकता है। किसी दी हुई रेखा या बिन्दु मे ही इसको मापा जा सकता है। इससे कुछ वैज्ञानिक इस नतीजे पर पहुँचे कि गति वास्तव नही है। लेकिन यह हेगेल का ही सिद्धान्त है कि अस्तित्व सम्बन्ध-बोधक है। किसी वस्तु को दूसरी वस्तु के द्वारा ही मापा जा सकता है और किसी पदार्थ का गुण किसी दूसरे पदार्थ के ऊपर प्रतिक्रिया का नाम है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रयोग को ही प्रथम स्थान देता है। निरपेक्ष गति हो या न हो, हमारे लिए घड़ी और स्थान दोनो की आवश्यकता है, इसलिए दोनो ही वास्तव है।

क्या मनुष्य की इच्छा-शक्ति स्वाधीन है ?

मनुष्य की इच्छा स्वाधीन है या नहीं, यह दार्शनिक क्षेत्र में एक प्राचीन प्रश्न है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसका उत्तर देता है—नहीं। इस प्रश्न का मूल भी धर्म-विद्या में है। यदि मनुष्य का कर्म उसकी स्वेच्छा से नहीं है तो वह पाप-पुण्य के भार से मुक्त हो जाता है तथा स्वर्ग और नरक का कोई अर्थ नहीं रह जाता। यही कारण है कि धर्म-विद्या मनुष्य की इच्छा को स्वतन्त्र मानती है।

इस प्रश्न का यों विचार कीजिए। सारा संसार कार्य-कारण के नियम से बँधा हुआ है। क्या मनुष्य इस संसार का अंश नहीं है? केवल मात्र मनुष्य की इच्छा ही क्या इस प्राकृतिक नियम के परे है? इस प्रश्न का उत्तर तो पहले ही दिया जा चुका है। सब वस्तुओं की तरह मनुष्य की इच्छा भी कारण-जनित है, उसकी इच्छा के प्राकृतिक तथा सामाजिक कारण है। मनुष्य ऐसा सोचता अवश्य है कि अपनी इच्छानुसार ही वह सब कुछ करता है लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। कवि ने उदाहरण दिया है कि प्रत्येक वारिविन्दु भी यह सोचता है कि अपनी इच्छा से ही वह ज़मीन पर गिरता है, मातृस्तन पीते समय बच्चा भी सोचता है कि अपनी इच्छा को ही वह पूरी कर रहा है।

यदि हमारी इच्छा स्वाधीन नहीं है तो बाध्य होने पर ही कोई काम हम करते है। इस बाध्यता के सम्बन्ध में हेगेल ने लिखा है—"बाध्यता उसी हद तक दृष्टिहीन है जहाँ तक हम इसको समझते नही।" इस पर टीका करते हुए एंगेल्स ने लिखा है कि प्रकृति और मनुष्य के साम्राज्य में ही स्वतन्त्रता का निवास है और इसकी बुनियाद है प्रकृति की मजबूरियो का ज्ञान। इसका खण्डन करते हुए यह कहा जाता है कि जहाँ हम मजबूरी के सामने सर झुकाते है वहाँ स्वतन्त्रता कहाँ? यहाँ पर मजबूरी के अर्थ पर हमें गौर करना चाहिए। ऐरिस्टॅट्ल (अरस्तू) ने इस अवश्यम्भाविवाद या नियतिवाद के विभिन्न अर्थो पर बहुत पहले ही विचार किया था। यदि हमें रोगमुक्त होना है तो दवा लेने के लिए

हम वाध्य है; जीवन धारण के लिए श्वास लेना आवश्यक है; प्रयाग में दिये गये कर्ज की वसूली के लिए वहाँ जाना ज़रूरी है। यह प्रयोजनीयता अवस्था-निर्भर (Conditional) है। एक अवस्था दूसरी अवस्था पर निर्भर है यथा जीवन धारण श्वास लेने पर निर्भर है। मनुष्य को वहिः प्रकृति के सम्बन्ध मे इसी तरह की मजबूरियो का सामना करना पड़ता है। फसल काटने के लिए फसल का बोना ज़रूरी है। इसमें कुछ लोगो को पराधीनता की बू आती है। नि सन्देह मनुष्य अधिक स्वतन्त्र होता यदि बिना परिश्रम ही उसकी आवश्यकताये पूरी हो जातीं। जब वह प्रकृति को अपना मतलब पूरा करने के लिए वाध्य करता है तब भी वह प्रकृति का अनुवर्ती है। लेकिन यह अनुवर्तिता ही उसकी स्वतन्त्रता की शर्त है। प्रकृति का अनुगामी वन कर वह प्रकृति पर विजय पाता है और इस प्रकार वह अपनी स्वतन्त्रता के राज्य का विस्तार करता है। अव हेगेल के इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि "प्रयोजन की स्वीकृति ही स्वतन्त्रता है।"

पूंजीवादी व्यवस्था और इच्छा स्वाधीनता--श्रेणी-विभाजन समाज में जितना ही सुदृढ होता गया, शासक-श्रेणी उतनी ही उत्पादन-शक्तियो से दूर हटती गई। कृषि-कार्य का भार, कारखाना चलाने का भार होता है गुलामो के ऊपर, मजदूरो के ऊपर। पूंजीपति सोच-विचार कर समाज-व्यवस्था के नीतिविधान की रचना-मात्र करते है। वस्तु-जगत् का उनसे कोई सम्पर्क नही। हाथ-पैर से काम करने के लिए है मज़दूर, मिस्त्री या इन्जीनियर। लाभकारी आविष्कार के लिए है वैज्ञानिक। यहाँ तक कि पूंजीपति को देखभाल की भी आवश्यकता नही। फारस में तेल की खानें चलती है और लाखो मील दूर बैठकर पूंजीपति मुनाफा कमाता है। धनिक वस्तु-जगत् के जिस अश का भोग करता है वहाँ वह देखता है कि वही कर्ता है, स्वाधीन और सर्वेसर्वा है, उसी की आज्ञा से सब चलता है। इसलिए आधुनिक सस्कृति और दर्शन मे इच्छा स्वाधीनता का दावा सहज ही मजूर हो जाता है।

वर्तमान आदर्शवादी दार्शनिक इच्छा स्वतन्त्रता के दावे के प्रमाण के लिए आधुनिक विज्ञान की शरण लेते हैं। Heisenberg के Principle of Inaeterminacy में उनको एक सहारा मिलता है। सक्षेप में इसका सिद्धान्त यह है कि कोई Electron दूसरे मुहूर्त में क्या करेगा यह निश्चय नही। Electron एक कक्ष से दूसरे कक्ष को कूद रहा है लेकिन कौन Electron कूदेगा इसका कोई निश्चय नही। जीन्स, एडिंगटन, शोडिगेर इसी को इच्छा-स्वतन्त्रता के प्रमाण के रूप में सादर अभ्यर्थना करते हैं। यहाँ पर दो बातें जान लेने की आवश्यकता है। एक यह कि किसी एक Electron की गति-विधि को लक्ष्य करने के लिए उसके ऊपर जो आलोकपात किया जाता है उसी से उसका स्थान-परिवर्तन हो जाता है, दूसरी बात यह कि Bhor के Correspondence principle के अनुसार परमाणुओ के सख्याधिक्य से उनकी गति की निश्चयता बढ जाती है। इस प्रकार आधुनिक विज्ञान भी कारण-विहीन स्वतन्त्रता का अन्त कर देता है।

द्वन्द्वन्याय और अन्तिम सत्य

द्वन्द्वमान किसी भी सत्य को अन्तिम नही मानता। इसके विपरीत आदर्शवादी दर्शन हर समय एक अन्तिम सत्य की खोज करता रहता है। यह सत्य अनादि, अनन्त और निर्विकार है। लेकिन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस परिवर्तनशील जगत् मे अपरिवर्तनीय सत्य की खोज नही करता। इस दृष्टिकोण की कही अन्तिम समाप्ति नही है। भूत जगत् निरन्तर प्रवाहमान है, कही विराम नही। हम व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से और प्रकृति को विचारवद्ध करने की दृष्टि से वस्तु-जगत् की किसी एक दिशा की विशिष्टताओ को अलग कर लेते हैं, लेकिन सनातन युक्ति का अनुसरण कर इनको अपरिवर्तनीय नही मानते। परमाणु गतिशील तरग की तरह है—लेकिन यह केवल वस्तु-जगत् के एक विशेष क्षेत्र के लिए ही सत्य है, दूसरे क्षेत्र मे यही ठोस

पदार्थ का आकार ग्रहण करता है। चेतन और अचेतन पदार्थ को हम पृथक् रूप मे देखते है और इस पार्थक्य की आपेक्षिकता को भी देखते है, चेतन पदार्थ के बीच भी अचेतन पदार्थ का उपादान है, भूत जगत् के अन्तर्निहित विरोधी गुण ही कभी चेतन और कभी अचेतन पदार्थ की सृष्टि करते है। एक अवस्था मे परमाणु अविभाज्य और मौलिक दीखता है, और यही फिर अपनी शक्ति मे ही टूट कर नये परमाणु को जन्म देता है। पञ्चेद्रिय की क्षमता की सीमा को हम देखते है, पुन ये ही यन्त्र की सहायता से अदृश्य को दृश्यमान करते है। Infra Red फोटो प्लेट मे कोहरे के भीतर से १५-२० मील दूर की तसवीर उतर आती है।

वस्तु-जगत् के गति-प्रवाह मे कोई विराम नही है। एक ही वस्तु की विरोधी शक्ति उसको एक जगह से दूसरी जगह ले जाती है—कणिका से तरग और अचेतन से सचेतन हो रही है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसी प्रकार वैज्ञानिक परीक्षा के क्षेत्र मे प्रमाणित हो रहा है।

बँधी पगडण्डी पर चलनेवाले बुर्ज़ोआ बुद्धिजीवी अवज्ञा के साथ कहते है कि विज्ञान के सिद्धान्त तो रोज बदलते रहते है—उनकी सत्यता कहाँ? नासिकाग्र पर दृष्टि स्थिर कर जो योगबल मे सभी जान लेते है उनके सिद्धान्त बदलते नही, क्योकि उन्होने तो अन्तिम सत्य पर अधिकार जमा लिया है। लेकिन वैज्ञानिक सिद्धान्त तो बदलते रहते है, व्यवहार मे इन सिद्धान्तो की जॉच होती रहती है और यही पर वैज्ञानिक सिद्धान्त की सार्थकता है।

याद रखना होगा कि ज्ञान-विज्ञान सभी मनुष्य के कर्म और विचार के बीच सृष्ट होते है। वैज्ञानिक तत्त्व पारस-पत्थर की तरह एकाएक नही मिल जाता। मनुष्य के कर्म और विचार की क्षमता उसकी शिक्षा, पारिपार्श्विक और यन्त्रादि के ऊपर निर्भर है। यदि अलौकिक प्रेरणा ही ज्ञान का मूल होती तो पाँच साल की उम्र का साँथताली बालक भी जगल मे बैठकर ही सब कुछ आविष्कार कर लेता।

वैज्ञानिक सिद्धान्तो की आपेक्षिकता का कारण यह है कि वैज्ञानिक ज्ञान उत्पादन-व्यवस्था की उन्नति तथा वैज्ञानिक की शिक्षा का स्तर और पारिपार्श्विक के ऊपर निर्भर है। दूसरा कारण यह है कि वैज्ञानिक तत्त्व का सग्रह हम भूत जगत् से करते हैं। यदि यह भूत जगत् अपरिवर्तनीय होता तो हम सब कुछ बिना अवशिष्ट के जान सकते। लेकिन यह भूत जगत् ही द्वन्द्वात्मक रीति से वनता बिगडता है। इस ध्वस और निर्माण के एक विशेष अश को अलग कर, इसकी परीक्षा कर अपने ज्ञान की सत्यता को हम प्रमाणित करते है। परन्तु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हमको आगाह कर देता है कि चरम ज्ञान की खोज मत करो क्योकि जिसको जान रहे हो उसी का कोई चरम शेष नही है—भूत जगत् निरन्तर परिवर्तित हो रहा है। नुक्ताबद घोडे की तरह चलनेवाले बुर्जोआ दार्शनिक तव नसीब ठोक कर कहते है—"इसी लिए तो सभी माया है। हम कुछ नही जान सकते। परमपिता परमेश्वर ही जान सकते है। व्यावहारिक ज्ञान यह सिद्ध करता है कि भूत जगत् को हम जान सकते है—इसका पूर्वभाग है लेकिन इसकी कोई सीमा नही है। यदि तुम्हारा यह खयाल है कि एक विराम दण्ड खीचे बिना तुम्हारे मन को सान्त्वना नही मिलेगी—समुद्र के उच्छ्वास के स्तब्ध हुए विना समुद्र का ज्ञान प्राप्त नही हो सकेगा तो यह तुम्हारी ही दुर्वलता है—न भूत जगत् का कोई अपराध है न वैज्ञानिक धारा की कोई त्रुटि। वैज्ञानिक हर समय नये तत्त्व और नये तथ्य का सन्धान करता रहता है, और हर एक वैज्ञानिक सत्य भूत जगत् के गति-प्रवाह का आपेक्षिक और आशिक विवरण-मात्र है। इसको भ्रम कह कर उडाया नही जा सकता।

भौगोलिक तत्त्व का एक दृष्टान्त ले लीजिए। भारतवर्ष का जो वर्तमान मानचित्र हम आज देख रहे है वह क्या सदा से ऐसा ही रहा है? २००० वर्ष पूर्व भारतवर्ष का जो रूप था वह आज से वहुत भिन्न था। और १०,००० वर्ष वाद इसका रूप और भी वदल जायगा। वगाल की खाडी के वीच रेत उठ सकन। है, कोई पहाड ऊँचा या नीचा हो सकता

है, किसी नदी का प्रवाह बदल सकता है। इसलिए आज का मानचित्र जो परीक्षित सत्य है, १०,००० वर्ष बाद वह एक ऐतिहासिक सत्य-मात्र रह जायगा। ग्रीनलैंड की वर्तमान अवस्था के वर्णन का, २,००० वर्ष पूर्व की अवस्था से कोई सम्बन्ध नही है। आज वह जनविहीन है, एक समय वह जनबहूल था और वहाँ का जल-वायु मनुष्य के निवास करने के लिए उपयुक्त था। ये भौगोलिक सत्य चरम सिद्धान्त नही हो सकते क्योकि भौगोलिक अवस्था परिवर्तनशील है। वैज्ञानिक सिद्धान्त भी इसी लिए आपेक्षिक है, तथापि ये परीक्षा-सिद्ध और कार्यकारी है, तर्क की आतिशबाजी से इस सत्य को उडाया नही जा सकता।

वैज्ञानिक सत्य मे एक दूसरे प्रकार की आपेक्षिकता है। एक दृष्टान्त ले लीजिए। जब चन्द्र के ऊपर पृथ्वी की छाया पडती है तो हम कहते है कि चन्द्रग्रहण हो गया। हमारी यह दृष्टि पृथ्वी से सम्पर्कित है। इसी घटना को यदि कोई चन्द्र के ऊपर से देखे तो वह कहेगा कि सूर्यग्रहण हो गया है; क्योकि चन्द्र के ऊपर से वह देखेगा कि सूर्य के ऊपर पृथ्वी की छाया पडी है। जिस घटना का अवलोकन किया जा रहा है वह न भूल है न माया। दृष्टि-केन्द्र (Frame of Reference) की विभिन्नता के कारण एक ही घटना दो प्रकार से दीख रही है। यहाँ भी वैज्ञानिक ज्ञान की आपेक्षिकता प्रमाणित हो रही है।

सत्य आपेक्षिक है सही, लेकिन इस आपेक्षिकता को अति तक पहुँचाया जा सकता है और तब यह हास्यास्पद बन जाता है। इसी प्रकार की आपेक्षिकता की आड लेकर वर्तमान पूंजीवादी भविष्य के एक वैज्ञानिक चित्र को देखने से मुँह मोडता है।

सत्य की परिभाषा करते हुए लेनिन ने लिखा है कि यह दृश्यगत घटना के सब पहलुओ का जोड है, उनकी वास्तविकता है और परस्पर निर्भरता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और आधुनिक दर्शन

आधुनिक दर्शनो पर एक तुलनात्मक दृष्टि डालने से मार्क्सवादी ही दर्शन का महत्त्व और स्पष्ट हो जाता है। जहाँ आधुनिक दर्शन मायाविमूढ

की तरह हमको पथ-भ्रष्ट करता है वहाँ मार्क्सीय दर्शन हमको जीवन-"पथ" का निर्देश करता है। यहाँ दृष्टान्त के लिए केवल (Pragmatist) दर्शन का एक बहुत सक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

(Pragmatism) के जन्मदाता (William James का) कहना है—"जिसकी व्यावहारिक उपयोगिता है वही सत्य है। सत्य हमारे विचारो मे प्रतिबिम्बित वास्तविकता का रूप नही है बल्कि जो व्यक्ति विशेष की भावनाओ और आवश्यकनाओ के साथ खप जाता है।" शिलर का मत भी इसी प्रकार है। सामाजिक मनुष्य वास्तव भूत की विचार-क्रिया से सत्य परे उपनीत नही होता है। बल्कि मनुष्य ही सत्य की सृष्टि करता है।

(Pirandello) के नाटक "तुम सही हो यदि तुम अपने को ठीक समझते हो" मे इस दर्शनवाद का सुन्दर चित्र मिलता है। "तुमको हाँ या ना करने के लिए दस्तावेज का प्रमाण चाहिए। मेरे लिए इनकी कोई आवश्यकता नही, क्योकि मेरी राय मे इन दस्तावेजो मे सत्य का निवास नही बल्कि उन व्यक्तियो के मन में है जिसके अन्दर सिवा उन्ही के दिये हुए प्रमाण से हम प्रवेश नही कर सकते।

डिवी के शब्दो में हमारे लिए सत्य वही है जिससे हमको सहायता मिलती है और जिसका हमारे ऊपर प्रभाव है। प्रयोजनवाद (Pragmatism) का सारतत्त्व यही है कि व्यावहारिकता ही हमारे लिए सब कुछ है, इससे अधिक हम कुछ नही जान सकते। यह दर्शन साम्राज्यवाद की अवनति का द्योतक है।

फॉयेरबाख पर मार्क्स के सूत्र

फॉयेरबाख पर मार्क्स के ग्यारह सूत्र मार्क्सीय दर्शन के सक्षिप्त सार-स्वरूप है तथा इस दर्शन के इतिहास के ऊपर प्रयोग के एक साधन-स्वरूप भी है। ये सूत्र इस प्रकार है।

(१) अब तक विद्यमान हर एक भौतिकवाद मे--जिसमे फॉयेरबाख का भौतिकवादी दर्शन भी शामिल है---प्रधान दोष यह है कि उसमें विषय

(वाह्य पदार्थ), वास्तविकता, इन्द्रियगोचरता को मानुषिक इन्द्रिय-गोचर क्रिया-प्रयोग के तौर पर नही, बल्कि केवल विषय या चेतना के तौर पर ही ग्रहण किया जाता था। इस तरह ऐसा हुआ कि भौतिकवाद के विरोध में आदर्शवाद ने क्रियावाले पहलू को विकसित किया, लेकिन केवल अमूर्त रूप मे, क्योकि आदेशवाद किसी वास्तविक इन्द्रियगोचर क्रिया को स्वीकार नही करता। फॉयेरबाख वास्तव को उसके कल्पना-चित्र से विभिन्न रूप मे देखता है लेकिन दोनो के सक्रिय सम्बन्ध को वह नही देखता। इसलिए 'खीष्ट्रतत्त्व-सार' मे वह सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को ही मनुष्य का सही दृष्टिकोण मानता है और प्रयोग को केवल इसके एक निकृष्टरूप के तौर पर। परिणाम-स्वरूप क्रियाशीलता के क्रान्तिकारी महत्त्व को वह ग्रहण नही कर सका।

(२) विषयात्मक सत्य को मनुष्य प्राप्त कर सकता है या नही यह प्रश्न सैद्धान्तिक नही बल्कि व्यावहारिक है। प्रयोग के द्वारा ही मनुष्य सत्यता की जॉच करता है। विचार और क्रिया दोनो एक ही सत्य की दो विपरीत दिशाये है।

(३) मनुष्य परिस्थितियो और पारिवारिक पालन-पोषण की उपज है, इसी लिए परिवर्तित मनुष्य किन्ही और परिस्थितियो और पालन-पोषण की उपज है। भौतिकवादी सिद्धान्त यह भूल जाता है कि परिस्थितियाँ ही केवल मनुष्य को नही बदलती, मनुष्य भी परिस्थितियो को बदलता है। शिक्षक को स्वय शिक्षा प्राप्त करनी होती है। फलस्वरूप यह सिद्धान्त समाज को दो भागो में बाँट देता है। एक गुरु और शिक्षक, जहाँ रावर्ट ओएन आदि आसीन है और दूसरा जिसमे विद्यार्थी, शिष्य और साधारण मनुष्य है। क्रान्तिकारी प्रयोग ही परिस्थिति तथा मनुष्य की क्रियाशीलता के (एक साथ) परिवर्तन के मूल मे है।

(४) फॅयेरवाख के दर्शन का आरम है धार्मिक दुनिया का जन्म, और इस दुनिया का एक कल्पित धार्मिक दुनिया और एक वास्तविक दुनिया मे विभाजन। उसकी पुस्तक का तत्त्व है धर्म-जगत् की दुनियावी

देखना। (इसका अर्थ यह है कि समाज और सामाजिक परिस्थिति से व्यक्ति का विश्लेषण न कर व्यक्तियो की समष्टि से समाज की रूप-रेखा ठहराना। इसमें व्यक्ति प्रथम है और समाज बाद में।)

(१०) पुराने भौतिकवाद का दृष्टिकोण है श्रेणी-विभाजित समाज। नये भौतिकवाद का दृष्टिकोण है मानव-समाज, विशेषकर समाज-वादी समाज।

(११) दार्शनिको ने आज तक इस दुनिया की केवल व्याख्या की है; हमारा काम है इस दुनिया को परिवर्तित करना।

हिन्दू दर्शन और भौतिकवाद

इस स्थान पर हिन्दू दर्शन का कुछ उल्लेख अनुपयुक्त न होगा। हिन्दू दर्शन-ग्रन्थादि एक ही मत के परिपोषक है, ऐसा नही है। भौतिकवाद के उल्लेखमात्र से चार्वाक का नाम लोगो को याद आता है। लेकिन चार्वाक से बहुत पहले इसका वर्णन हमको उपनिषदो में मिलता है।

"सृष्टि का मूल क्या है ? आकाश। सब सृष्ट पदार्थ आकाश ही से उत्पन्न होते है तथा इसी मे विलीन होते है।"

"जिसको आकाश कहते है वह सब नाम-रूपो का द्योतक है।" (छान्दोग्य उपनिषद)

इसी उपनिषद मे ब्रह्म का भी उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि आकाश ब्रह्म नही है और यही सृष्टि का भौतिक कारण है।

श्वेताश्वतर उपनिषद मे अग्नि वह स्वयभू है जिससे भूतमात्र की उत्पत्ति है। यह अग्नि भी ब्रह्म नही है।

लेकिन वर्तमान काल में वेदान्त-दर्शन का मायावाद ही जनप्रिय है। यह एक आदर्शवादी दर्शन है जिसके अनुसार निर्विकार निराकार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। यह ब्रह्म हेगेल के निर्विशेष मानस (Absolute Idea) से मिलता-जुलता है। निर्विशेष मानस जैसे विशेष के भीतर

ही विकसित होता है वेदान्त के ब्रह्म की कल्पना भी वैसी ही है। ब्रह्म अपने को विभक्त कर माया के रूप मे प्रदर्शित करता है। ब्रह्म शब्द की उत्पत्ति है वृह धातु से, जिसका अर्थ है वर्द्धित होना। यह वर्द्धित होना और हेगेल के (Becoming) का सादृश्य स्पष्ट है।

मायावादी दर्शन की असगति को दूर करने के लिए गौडपाद आदि दार्शनिको ने ब्रह्म या आत्मा को मूल में रखकर भूत जगत् को उसका फलस्वरूप बतलाया और इस प्रकार सत्य की मर्यादा को अक्षुण्ण रक्खा।

वेदान्त दर्शन का बहूल प्रचार होने पर भी हिन्दू-दर्शन केवलमात्र वेदान्त ही नही है। न्याय और मीमासा दर्शन भी चार्वाक दर्शन की तरह प्रमाण-सापेक्ष ज्ञान मे विश्वास रखते है। वौद्ध सौतान्त्रिक और वैभासिक दर्शन भी इसी के अनुरूप है।

'वौद्ध-मत स्वय भारतीय भौतिकवादियो का वैदिक धर्म के विरुद्ध एक विद्रोह है। यह कणाद-कपिल की धाराओ को कायम रखता है। कणाद का परमाणुवाद डिमोक्रिटस् के परमाणुवाद मे बहुत मिलता-जुलता है। कपिल की उक्ति है—"केवल विचार का ही अस्तित्व नही है क्योकि वहिर्जगत् का भी हमको सहज प्रत्यय है।" "इसलिए यदि एक का अस्तित्व नही है तो दूसरे का भी अस्तित्व नही। फिर केवल शून्य ही रह जाता है।" (साख्य प्रथम खण्ड—सूत्र ४२, ४३) इसके ऊपर विज्ञान-भिक्षु की टीका और भी स्पष्ट है।" विचार ही केवल-मात्र वास्तविकता नही है, क्योंकि भूत और विचार दोनो का प्रमाण सहज प्रत्यय है। यदि इस प्रमाण से भूत सिद्ध नही है तो विचार भी सिद्ध नही होता क्योकि दोनो का प्रमाण सहज प्रत्यय है। इस प्रकार केवल शून्य ही रह जाता है।" वौद्ध-दर्शन मे सर्वास्तित्ववादिन तथा शून्यवादिन दोनो ही भौतिक-वादी मत की पुष्टि करते है। लेकिन निर्वाण को मान लेने के कारण उनका भौतिकवाद अपरिणत रह जाता है। तत्कालीन समाज का अन्तर्विरोध ही इस दार्शनिक अन्तर्विरोध के रूप में प्रकाश पाता है।

योगबल और अलौकिक शक्ति—यहाँ योगादि के विषय में एक शब्द कहना असगत न होगा। क्या तपस्या, योगक्रिया आदि से मनुष्य अलौकिक कार्य सम्पन्न कर सकता है? जो कुछ पहले कहा जा चुका है उससे उत्तर स्पष्ट है। कदापि नही। योग की शास्त्रीय परिभाषाओं से भी इसके ऊपर कुछ प्रकाश पड़ता है। पातञ्जल सूत्र की परिभाषा हं—योगश्चित्तवृत्तिरोरोघः। चित्त की वृत्तियो का निरोध—यह स्वय ही एक असम्भव क्रिया है; इसलिए एक असम्भव क्रिया से असम्भव फल प्राप्त होता है या नहीं, यह प्रश्न स्वयं ही अपना उत्तर है। गीता की परिभाषा है—योगः कर्मसु कौशलम्। तिलक ने इसी परिभाषा पर जोर दिया है। स्पष्ट ही यह परिभाषा योग को अलौकिक क्षेत्र से उतार कर व्यवहार-क्षेत्र में लाने का प्रयत्न है। व्यावहारिक अर्थ मे ही एक मार्क्स-वादी गीता के उस श्लोक की प्रशसा कर सकता है जिसमें मनुष्य को समदर्शी होने का उपदेश दिया गया है—लाभ और हानि, जय और पराजय, दोनों मे ही उसको अविचलित रहने को कहा गया है। लेकिन मार्क्सवाद और गीता की प्रेरणाये भिन्न है। गीता की प्रेरणा है—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। लेकिन मार्क्स के दर्शन में ईश्वर को फल सौंपने की बात नही आती, क्योकि वह एक निरीश्वरवादी दर्शन है। ईश्वर मे विश्वास से ही अलौकिक शक्ति की कल्पना आती है। जन्मान्तर रहस्य इसी का एक अग है। ऐसे प्रश्नो का उत्तर Dialectics of Nature नामक पुस्तक के एक अध्याय मे एगेल्स ने दिया है। प्रेतात्मा बुलानेवालो की कारस्तानियाँ कैसे अदालतो मे खुली, उन घटनाओ का उल्लेख करते हुए एगेल्स ने अलौकिक शक्ति की असम्भावनाओ को प्रमाणित किया है।

दार्शनिक और वैज्ञानिक कोष

अँगरेज़ी—हिन्दी

Absolute—निर्विकल्प
Absolute idea—अमूर्त भावना
Abstract—अमूर्त
Abstraction—प्रत्याहार
Accident—आकस्मिक उपाधि
Acid—अम्ल, तेजाब
Active—सक्रिय, क्रियाशील
Aggregate—योग
Allotropy—अनेक रूपत्व
Alternate—एकान्तर
Amorphous—अमणिभ
Analysis—विश्लेषण
Angular—कोनीय
Apparent—व्यक्त, प्रत्यक्ष
Apply—सप्रयोजित करना
Artificial—कृत्रिम
Asymptote—स्पर्शान्तिक
Atom—परमाणु
Atomic weight—परमाणु गुरुत्व, अणुभार
Attraction—आकर्षण
Automatic—आत्मचालित
Average—औसत
Axis—अक्ष
Base—आधार
Body—पिंड
Cause—हेतु (Efficient cause—उत्पादक कारण)
Cell—कोष
Centre—केन्द्र
Centripetal—केन्द्राभिमुखी
Centrifugal force—केन्द्रापसारी
Circle—वृत्त
Common (to both)—उभयनिष्ठ
Circumference—परिधि
Cognition—उपलब्धि
Collapse—अवसाद
Complex process—सकरीकरण
Composition—सयोग
Concept—बोध
Condition—प्रतिबन्ध, शर्त

Consciousness—चेतना
Condensation--घनीकरण
Conduction—वहन धर्म
Conductor (Bad)--कुचालक
Constant—स्थिरांक
Constituent—अवयव
Contact—संस्पर्श
Correspondence—संगति
Crystal—स्फटिक, मणिभ
Cube—घन
Current—धारा
Cycle—चक्र आवर्तन
Data—सामग्री
Degree—कोटि
Density--घनत्व
Dialectics--द्वन्द्वन्याय
Disturbance—विक्षोभ
Dualism—द्वैतवाद
Dynamic--गत्यात्मक
Dynamics—गति-विज्ञान
Eccentric—बिकेन्द्र
Eclecticism—निर्वाचनवाद
Electricity—विद्युत्
Electricity (Positive)--
घन विद्युत्
Electromagnetic—विद्युत्
चुम्बकीय
Electron—विद्युत् कण
Element—मूलतत्त्व, तत्त्व
Empirical—अनुभवमूलक
Energy—शक्ति
Equilibrium—स्थायी साम्य
Essence—सार
Essential—तात्त्विक
Evolution—विकास
Exact—यथार्थ
Experiment—प्रयोग
Expression—व्यंजन
Extreme--चरम
Fact—तथ्य
Factor—गुणक
Faith--निष्ठा
Fatalism—भाग्यवाद
Final cause—उद्देश्य, हेतु
Form—आकृति, रूप
Formal cause—स्थूल कारण
Fraction—अंश, अपूर्णाङ्क
Friction--घर्षण
Function—कर्म, कार्य, धर्म
Fundamental—मौलिक
Gas—वायवीय पदार्थ
General—सामान्य; व्यापक
Geo-centric—भूमिकेन्द्रीय
Good—हित, शुभ

Gravitation—माध्याकर्षण
Heat—ताप
Horizon—क्षितिज
Hydrogen—उद्जान
Idealism—आदर्शवाद
Identity—समानता
Ideology—भावना-शास्त्र
Image—प्रतिबिम्ब
Inclined—आनत
Inclined plane—आनत धरातल
Inert—जड
Inertia—जडत्व
Infinite—अपरिमित
Infinity—अनत
Infra-red—आलोहित
Inorganic—अचेतन
Instinct—नैसर्गिक बुद्धि
Law—नियम
Liquid—द्रव
Magnet—चुम्बक, Magnetic चुम्बकीय
Mass—वस्तुमान
Material—जड
Materialism—भौतिकवाद
Matter—पदार्थ
Measure—माप
Mechanical—यान्त्रिक
Mechanics—यन्त्रविज्ञान
Metal—धातु
Metaphysics—अतिभौतिकवाद
Mind—मानस
Mineral—खनिज
Molecule—अणु, कण
Monad—शक्त्यणु
Motion—गति
Mysticism—रहस्यवाद
Natural—प्राकृतिक, नैसर्गिक
Negation—प्रतिषेध
Negative—ऋणात्मक
Nihilism—शून्यवाद
Noumena—वास्तविक रूप
Nucleus—कोषकेन्द्र
Object—पदार्थ, वस्तु
Objective—विषयात्मक
Optics—प्रकाश-विज्ञान्
Order—क्रम
Organic—जैविक
Oxygen—प्राणवायु
Parallel—समानान्तर
Particle—कण
Perception—प्रतीति, उपलब्धि
Periodic Table—आवर्तकोष्टक
Phenomenon—घटना, दृश्य

Physics—पदार्थ-विज्ञान
Pole—ध्रुव, टोक
Positive—भावसूचक
Pragmatism—प्रयोजनवाद
Pressure—दाव
Process—प्रक्रिया
Pyramid—सूचीस्तम्भ
Quality—गुण
Quantity—परिमाण
Rarefaction—विरलीकरण
Ratio—अनुपात
Reflection—परावर्तन
Refraction—शंकवीयवर्तन
Relative—सापेक्षिक
Relativity—सापेक्षावाद
Representation—प्रतिनिधित्व
Sceptic—शकावादी
Scholasticism—सम्प्रदायवाद
Sensationalism—इन्द्रियवाद, इन्द्रियानुभूतिवाद
Size—आकार, विस्तार
Sophist—वितण्डावादी
Speed—चाल, रफ्तार
Square root—वर्गमूल
State—अवस्था
Statistics—गणनाशास्त्र
Subjective—आत्मगत
Substance—पदार्थ
Symbol—सकेत
Symmetry—सममित
Synthesis—सश्लेषण, समन्वित-वाद
System—पद्धति, प्रणाली
Table—सारिणी (Periodic—Table—आवृत्ति सारिणी)
Theology—धर्म-विद्या
Theory—सिद्धान्त
Thesis—वाद Anti-thesis—प्रतिवाद)
Transcendentalism—अनुभवातीतवाद
Unit—एकाक, इकाई
Universal—सार्वदेशी, सार्वभौमिक
Volume—आयतन
Wave—तरग
Weight—भार
Will power—इच्छा-शक्ति

पुस्तक सूची

जिन पुस्तकों की सहायता से मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है उनकी सूची नीचे दी जा रही है। अधिकाश पुस्तकें अँगरेजी ही में हैं।

Dialectical Materialism—David Guest
Anti Duhring—F Engels
Early writings of Karl Marx
Capital—Karl Marx
Dialectics—Jackson
Dialectical Materialism—Adoratsky
Historical and Dialectical Materialism—Stalin
समाजवाद—बाबू सम्पूर्णानन्द
Philosophy for a modern man—Levy
Essays in Materialism—Plekhanov
Fundamental Problems of Marxism—Plekhanov
Materialism—M N Roy
Republic—Plato
Introduction to Philosophy—Lewis
Outline of Modern Knowledge
Great Philosophies of the World—Joad
Ludwig Feuerbach—Engels
Dialectics of Nature—Engels
Materialism and Empirio-criticism—Lenin
Marxiya Darshan—(Bengali)